Year 8, Issue 29
Jan.-March, 2011

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष ८ - अंक २९, जनवरी-मार्च २०११

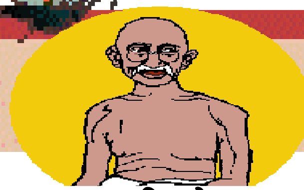

साबरमती के सन्त

प्रदीप

दे दी हमें आज़ादी बिना खड्ग बिना ढाल
साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल
आँधी में भी जलती रही गाँधी तेरी मशाल
साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल

धरती पे लड़ी तूने अज़ब ढंग की लड़ाई
दागी न कहीं तोप न बंदूक चलाई
दुश्मन के किले पर भी न की तूने चढ़ाई
वाह रे फ़कीर खूब करामात दिखाई
चुटकी में दुश्मनों को दिया देश से निकाल
साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल

शतरंज बिछा कर यहाँ बैठा था ज़माना
लगता था मुश्किल है फिरंगी को हराना
टक्कर थी बड़े जोर की दुश्मन भी था तना
पर तू भी था बापू बड़ा उस्ताद पुराना
मारा वो कस के दाँव के उल्टी सभी की चाल
साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल

जब-जब तेरा बिगुल बजा जवान चल पड़े
मज़दूर चल पड़े थे और किसान चल पड़े
हिंदू और मुसलमान, सिख पठान चल पड़े
कदमों में तेरी कोटि-कोटि प्राण चल पड़े
फूलों की सेज छोड़ के दौड़े जवाहरलाल
साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल

मन में थी अहिंसा की लगन तन पे लँगोटी
लाखों में घूमता था लिए सत्य की सोटी
वैसे तो देखने में थी हस्ती तेरी छोटी
लेकिन तुझे झुकती थी हिमालय की भी चोटी
दुनिया में भी बापू तू था इंसान बेमिसाल
साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल

जग में जिया है कोई तो बापू तू ही जिया
तूने वतन की राह में सब कुछ लुटा दिया
माँगा न कोई तख़्त न कोई ताज भी लिया
अमृत दिया तो ठीक मगर खुद ज़हर पिया
जिस दिन तेरी चिता जली, रोया था महाकाल
साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल

दे दी हमें आज़ादी बिना खड्ग बिना ढाल
साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल

वसुधा

संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
गाँधी जी का हिन्दी प्रेम	डा. सत्यपाल श्रीवत्स	३
धर्म	देवेन्द्र सिंह चौहान 'सुरेश'	५
हिन्दी	त्रिवेनी प्रसाद दूबे 'मनीष'	६
कनुप्रिया	शैल अग्रवाल	७
यह ठिठका हुआ पल	डा. हरजेन्द्र चौधरी	१४
जये ! जन-जन को दे जगा	डा. राम देव प्रसाद सिंह	१५
सभी भाषाएँ नागरी में भी लिखी जायँ	प्रा. अनन्त राम त्रिपाठी	१६
नागरी महिमा	डा. हेमवती शर्मा	१६
स्मृतियों के सारांश	पूर्णिमा वर्मन	१७
साँसें डरी डरी	डा. सुरेश प्रकाश शुक्ल	१९
उससे मिलना	उषा राजे सक्सेना	२०
सुखद परिवर्तन	अक्षय गोजा	२६
मीडिया की हिन्दी भी पाठ्यक्रम का हिस्सा बने	डा. नवीन चन्द्र लोहनी	२७
शाश्वत् चिन्तन	राजेन्द्र नाथ मेहरोत्रा	२८
देखना जानना और होना	चंद्रकान्ता	२९
ओस की बूँदें	आभा कुलश्रेष्ठ	३४
औरत की आवाज़	डा. सरला अग्रवाल	३५
बिना शीर्षक	डा. कुसुम अंसल	३६
जड़	हरीश चन्द्र जोशी	४२
निर्माण	डा. हरिवंश राय बच्चन	४३
एक रात	डा. शशि मोहन ऋषि	४४
साबरमती के सन्त	प्रदीप	१३अ
फिर भी आती है वतन की याद बार-बार	स्नेह ठाकुर	४४अ

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534
वार्षिक शुल्क Annual subscription..........$25.00
डाक द्वारा By Mail................................$35.00
Website: http://Vasudha1.webs.com
e-mail: sneh.thakore@rogers.com

संपादकीय

हिन्दी की महिमा-गरिमा अक्षुण्ण बनाये रखने, हिन्दी के प्रति जन-जागरण हेतु बापू के स्वप्न की अलख जगाये रखने के लिये 'वसुधा' के साहित्यकारों की एकनिष्ठता की आभारी हूँ।

'साउथ एशियन्स इन ऑन्टेरियो' (अध्यक्ष सैम चौपड़ा) एवं 'विज़न लाइफ़ इंक' के तत्वावधान में आयोजित दीपावली पर्व में ४०० व्यक्तियों ने इस पर्व का आनन्द उठाया। भारतीय कोंसुलावास की तत्कालीन कोंसुलाध्यक्ष सुश्री चरणदासी जी, एम.पी. श्री जिम कैरीगियानिस, एम.पी. डॉ.क्रिस्टी डन्कन, एवं रीज़नल काउन्सलर श्री जो ली ने दीप प्रज्वलित कर आयोजन का शुभारम्भ किया। तत्पश्चात् श्रीमती सविता चौपड़ा व श्री अतुल गेरा के कुशल संचालन में साहित्य, संगीत, कला की त्रिवेणी बही। मैंने कविता के माध्यम से ज्योतिर्मय दीपावली पर्व परिभाषित किया। साँझ के अल्पाहार से शुरू आयोजन रात्रि भोजनोपरान्त सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। इसी अवसर पर मारख़म पुलिस चीफ़ श्री आरमंड लबार्ज को अवकाश-ग्रहण हेतु शुभकामनाओं सहित सम्मानित किया गया।

मॉरीशस से आये रामायण सेन्टर के चेयरमैन एवं साहित्यकार डॉ.राजेन्द्र अरुण और विश्व हिन्दी सचिवालय की प्रथम महासचिव डॉ.विनोद बाला अरुण का जो सान्निध्य हमें प्राप्त हुआ और उसके फलस्वरूप घंटों रामायण एवं हिन्दी साहित्य पर हुए विचार-विमर्श की गंगा-जमुना में डूबते-उतराते जो अनमोल मोती प्राप्त हुए, उस अमूल्य निधि हेतु उनकी आभारी हूँ। अरुण जी को मुरारी बापू द्वारा प्राप्त सम्मान हेतु ठाकुर साहब, वसुधा व मेरी ओर से बधाई।

वसुधा के परम हितैषी वरिष्ठ साहित्यकार हिमांशु जोशी जी को कुमाऊँ विश्वविद्यालय द्वारा विश्वविद्यालय के अल्मोड़ा परिसर में कुलाधिपति एवं उत्तराखण्ड की राज्यपाल श्रीमती मार्गरेट अल्वा द्वारा डी.लिट् की मानद उपाधि से विभूषित किया गया। ठाकुर साहब, वसुधा व मेरी ओर से बधाई।

वसुधा की लेखिका, परम आत्मीय चित्रा मुद्गल जी का तमिलनाडु प्रगतिशील लेखक संघ एवं चिन्नप्प भारती न्यास के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित विराट सभा में भव्य स्वागत हुआ और उन्हें चिन्नप्प भारती न्यास के सर्वोच्च सम्मान से नवाज़ा गया। इस सम्मान में शॉल और प्रतीक चिह्न के साथ पचास हज़ार रुपये की राशि सम्मिलित है। चित्रा जी का अभिनन्दन करते हुए न्यास के अध्यक्ष डॉ.पी.सेल्वराज ने बताया कि चित्रा जी समाज से सरोकार रखने वाली जीवट की लेखिका हैं। 'आवाँ' की रचना समाजशास्त्रीय फ़लक पर हुई है। नई सहस्त्राब्दि के अरुणोदय में रचित यह उपन्यास नई सोच, समझ और कलात्मक भंगिमा से युक्त है। जहाँ यह दलित और स्त्री के संघर्ष और प्रतिष्ठा का उपन्यास है, वहाँ इसमें आज के बढ़ते हुए पाखण्ड और अवमूल्यन का उद्‌घाटन भी हुआ है। चित्रा जी को ठाकुर साहब, वसुधा व मेरी ओर से बधाई।

हिन्दी के प्रबल समर्थक, 'विश्व हिन्दी सम्मेलनों' के प्रणेता, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष, राजकीय, सामाजिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में वैशिष्ट्य योगदान देने वाले बहुमुखी प्रतिभा के धनी, राष्ट्र-भक्त, लोकसेवक श्री मधुकर राव चौधरी जी गत वर्ष इस नश्वर शरीर और संसार को छोड़कर हमसे दूर चले गये हैं; पर उनके महान विचार, उनका कृतित्व सदैव हमारा मार्गदर्शन करेगा। हम उनकी आदर्शमयी डगर पर चलें, यही उनके प्रति हमारी यथोचित श्रद्धांजलि होगी।

'सद्‌भावना हिन्दी साहित्यिक संस्था' ने चौथे काव्य-संग्रह 'काव्य-धारा' का प्रकाशन किया है। पिछले तीन संग्रहों की तरह इस बार भी संकलन और संपादन का दायित्व मुझे सौंपा गया। संस्था की अध्यक्ष और 'काव्य-धारा' काव्य-संग्रह की संपादक के नाते कवियों और सभी प्रोत्साहित करने वाले हिन्दी प्रेमियों की आभारी हूँ।

नव वर्ष मंगलमय हो
आतंक-रहित सद्‌भावना प्रेरित
जन-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत
सत्यं शिवं सुंदरम् हो।
विश्व परिवार आनन्दित हों
रस-भीने मन-प्राण गुंजित हों
रहे परस्पर एक-दूसरे से प्यार
मानवता हो न कभी कम।

इसी भावना को मन-प्राण में सँजोये, सस्नेह, स्नेह ठाकुर

गाँधी जी का हिन्दी प्रेम

डा. सत्यपाल श्रीवत्स

जब हम राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को सारे विश्व के सन्दर्भ में स्मरण करते हैं तो हमारे सामने उनका विश्वमानव का रूप उभर कर आता है और जब हम उन्हें केवल भारत के संदर्भ में ही स्मरण करते हैं तो उनका रूप राष्ट्रव्यापी ही नहीं अपितु भारत राष्ट्र के पर्याय के रूप में उभरता है। उनके इस राष्ट्रव्यापी रूप के बारे में जब हम विचार करते हैं तो हमारे देश की वे विभिन्न पूर्ण समस्याएँ हमारे स्मृतिपटल पर उभर कर आती हैं जिनके साथ बापू उमर भर जूझते रहे थे। उनमें से कइयों का (स्वतंत्रता प्राप्ति को मिला कर) उन्होंने अपने जीवन-काल में ही समाधान कर दिया था, जबकि कइयों के समाधान के लिए उन्होंने अपनी सूझ-बूझ से मार्ग भी प्रशस्त कर दिया था तथा एक दिशा भी सुझा दी थी।

इन समस्याओं में बेशक सर्वप्रथम थी छुआछूत, अनपढ़ता तथा साम्प्रदायिकता को समाप्त करने की समस्या, महिला उद्धार की समस्या, अहिंसा प्रचार की समस्या तथा खादी प्रचार की समस्या, परन्तु उनमें भी प्रमुख थी हिन्दी को सारे राष्ट्र की सम्पर्क भाषा तथा राष्ट्रभाषा (राजभाषा) के रूप में मान्यता दिलवाने की समस्या। क्योंकि इस लेख का उद्देश्य ही गाँधी जी द्वारा हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए किए गए प्रयत्नों तथा हिन्दी के प्रति उनके संवेदनात्मक प्यार को रेखांकित करना है, अतः इसे उसी पर केन्द्रित करते हुए आगे बात की जाती है। वास्तव में गाँधी जी ने अपने दक्षिण अफ्रीका के प्रवास-काल में ही भारत के संदर्भ में हिन्दी के महत्व को भाँप लिया था। यह उनकी सूझ-बूझ और एक भविष्य-द्रष्टा की स्वच्छ सोच का ही परिणाम था कि उन्होंने हिन्दी को भारत की अस्मिता के मूलाधार के रूप में पहचान लिया था।

जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में १९०५ई. के आस-पास 'इण्डियन ओपिनियन' नामक साप्ताहिक पत्रिका का सम्पादन एवं प्रकाशन आरम्भ किया तो उन्होंने कहा था, 'कि भारत से आये हुए रोजी-रोटी की ख़ातिर विभिन्न धर्मों से सम्बंध रखने वाले अनेक भारतीय लोग न तो अँग्रेजी लिख-पढ़ सकते हैं और ना ही पूरी तरह बोल तथा समझ सकते हैं।' संयोग से उन्हीं दिनों वहाँ भवानी दयाल नामक एक भारतीय संन्यासी भारतीयों के बीच हिन्दी-प्रचार के लिए जा पहुँचा था, जो शीघ्र ही गाँधी जी के सम्पर्क में आया। गाँधी जी ने उसे 'इण्डियन ओपिनियन' का हिन्दी संस्करण निकालने की प्रेरणा दी तो उसने गाँधी जी का आमंत्रण झट स्वीकार करके उक्त पत्रिका का हिन्दी संस्करण निकालना आरंभ कर दिया, जिसकी वहाँ रहने वाले भारतीयों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा स्वागत भी किया।

९जनवरी, १९१५ई. में जब गाँधी जी ने भारत पहुँच कर सबसे पहले यहाँ चल रही स्वतंत्रता आंदोलन की गतिविधियों को गहराई से समझने का प्रयत्न किया। एतदर्थ उन्होंने भारत भर के सभी प्रमुख नगरों का भ्रमण करके पं. मदनमोहन मालवीय, लोकमान्य तिलक, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, भूपेन्द्रनाथ बसु, लाला लाजपत राय जैसे अनेक गणमान्य नेताओं के साथ देश की विकट समस्याओं तथा विशेषकर अँग्रेजी साम्राज्यवाद के बढ़ते अत्याचारों के बारे में विचार-विमर्श भी किया। इसके बाद वह इस परिणाम पर पहुँचे कि यह एक सच्चाई है कि हम सारे भारत को एक सूत्र में तभी बाँध सकते हैं जब हम जन-जन के साथ सम्पर्क साधने के लिए हिन्दी का व्यवहार करें। यह ठीक है कि यह करते हुए हमें प्रादेशिक भाषाओं की कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, परन्तु उनका महत्व अपने-अपने प्रदेश में ही है। अतः हिन्दी अपना राष्ट्रव्यापी रूप पुष्ट करती हुई एक बड़ी बहन के समान प्रादेशिक भाषाओं को अपने-अपने प्रदेशों में साथ लेकर अपने कदम आगे बढ़ाए। इसी से सारे राष्ट्र का भला है। इसीलिए गाँधी जी ने स्वयं गुजराती भाषा-भाषी होते हुए भी हिन्दी को अपने राजनैतिक आंदोलनों का माध्यम बनाया। उन्होंने हिन्दी के लम्बे इतिहास का अध्ययन करने के बाद यह अनुभव किया कि वस्तुतः हिन्दी को बनाने और सँवारने में भारत के अधिकांश प्रदेशों के संतों और बुद्धिजीवियों ने अपना-अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है; उनमें बंगाल के केशवचन्द्र सेन, अरविन्द घोष, स्वामी विवेकानंद, दक्षिण के स्वामी रामनंद, रामानुजाचार्य, महाराष्ट्र के संत नामदेव, संत तुकाराम, गुजरात के नरसी मेहता तथा स्वामी दयानंद सरस्वती आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और यदि हम गुरु नानकदेव जी की वाणी पर गंभीरता से विचार करें तो उसमें भी ७०प्रतिशत से भी

अधिक शब्द ब्रजभाषा के हैं। उसी भाषा को ही उनसे लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक सभी गुरुओं ने अपने प्रचार का माध्यम बनाया। इन्हीं सब पहलुओं पर विचार करने के बाद गाँधी जी ने सक्रिय राजनीति में भाग लेते समय अपने सभी राजनैतिक साथियों को हिन्दी के माध्यम से अपनी गतिविधियाँ चलाने का आग्रह किया। यह उनकी प्रेरणा का ही परिणाम था कि १९२०ई. में अखिल भारतीय काँग्रेस समिति ने एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास करके काँग्रेस के संविधान में संशोधन करके पार्टी की हर कार्यवाही के लिए हिन्दी को माध्यम के रूप में स्वीकार किया। अपने हिन्दी प्रेम को और व्यावहारिक रूप देते हुए १९१८ई. में गाँधी जी ने अपने पुत्र देवदास गाँधी को मद्रास में भेज कर वहाँ 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार समिति' की स्थापना करवाई। इस संस्था ने कई पथ बाधाएँ झेलते हुए दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का जो महत्वपूर्ण कार्य किया है और अब भी करती आ रही है वह एक इतिहास बन चुका है। गाँधी जी की सत्प्रेरणा से लगाया हुआ वह हिन्दी वट-वृक्ष आज इतना विशाल बन चुका है कि जिसकी जड़ें दूर गहरी पहुँच चुकी हैं और जिसकी छाया में आश्रय लेकर कई दक्षिण भारतीय हिन्दी विद्वानों ने ख्याति प्राप्त की है जिनमें डॉ. बालशौरि रेड्डी, डॉ. जी गोपीनाथन, श्री वेलायुध नायर, श्री बालकृष्ण पिल्लै, डॉ. विजयराघव रेड्डी, श्रीमती बी. शांता बाई, डॉ. बि. रामसंजीवय्या आदि हिन्दी विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आज 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' राष्ट्रीय महत्व की संस्था बन चुकी है जिसकी परीक्षाओं में लाखों छात्र/छात्राएँ भाग लेकर लाभान्वित होते हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इसे मानित विश्वविद्यालय के रूप में मान्यता दी हुई है।

१९२८ई. में गाँधी जी की प्रेरणा से ही पं. मोतीलाल नेहरू ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करके सिफारिश की थी कि भारत की राजभाषा हिन्दी ही होनी चाहिए। उन्हीं दिनों गाँधी जी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि 'जो एक बार भी विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की वकालत करते हैं वे जनता के दुश्मन हैं।' आगे चल कर उन्होंने कहा था कि मैं बच्चों के लिए ज़रूरी नहीं समझता कि वे अपनी बुद्धि के विकास के लिए विदेशी भाषा का बोझ सिर पर ढोएँ और अपनी उगती हुई शक्तियों का व्यर्थ में ही ह्रास होने दें। आज इस अस्वाभाविक परिस्थिति का निर्माण करने वालों को ज़रूर गुनहगार समझता हूँ। इसके कारण देश को जो नुकसान हुआ है उसकी तो हम कल्पना तक नहीं कर सकते, क्योंकि हम खुद उस सर्वनाश से घिरे हुए हैं। मैं उसकी भयंकरता का अंदाज़ा लगा सकता हूँ, क्योंकि मैं निरंतर करोड़ों मूक दलित और पीड़ित लोगों के सम्पर्क में आता रहता हूँ।

एक बार तो गाँधी जी ने अति भावुकता या यों कहिए कि अपनी हिन्दी के प्रति संवेदनात्मक निष्ठा व्यक्त करते हुए यहाँ तक कह दिया था कि, 'कह दो दुनिया वालों को कि गाँधी अँग्रेजी भूल गया है।'

हिन्दी के इतिहास का वह सच ही एक स्वर्णिम दिन था जब सन् १९३६ई - के उस दिन गाँधी जी ने वर्धा में 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना की थी, जिसकी आज लगभग सारे देश के सभी राज्यों में हजारों शाखाएँ हिन्दी का प्रचार कर रही हैं तथा अपने-अपने प्रदेश में विभिन्न परीक्षा-केन्द्र चला रही हैं, जिनमें हर वर्ष लाखों की संख्या में परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। यह 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' वर्धा के प्रयत्नों का ही परिणाम है कि भारत सरकार को वर्धा में 'अन्तरराष्ट्रीय महात्मा गाँधी हिन्दी विश्वविद्यालय' स्थापित करने का निर्णय लेना पड़ा था। यद्यपि यह विश्वविद्यालय अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है, परन्तु आशा है कि धीरे-धीरे यह विश्वविद्यालय सही अर्थ में अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त शैक्षणिक संस्था के रूप में उभर कर विश्व के कोने-कोने में हिन्दी का संदेश पहुँचाने में सफल होगा।

यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि यदि गाँधी जी ने १९१५ई. में हिन्दी के राष्ट्रव्यापी महत्व को समझ कर इसके प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्न आरम्भ न किया होता तो न इसे ११सितम्बर, १९४९ई. में भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३४३ (१) में राष्ट्रभाषा के रूप में स्थान मिला होता और ना ही इसके प्रचार-प्रसार के लिए देश की अनेक साहित्यिक संस्थाएँ इस प्रकार जुटी हुई होतीं। अतः स्पष्ट है कि गाँधी जी को हिन्दी के साथ प्यार न तो किसी प्रकार की प्रेरणा से हुआ था और न ही किसी प्रकार की भावुकता के कारण, बल्कि हिन्दी के प्रति उनका प्रेम व्यावहारिक दृष्टिकोण और राष्ट्र हित की दृष्टि से था। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि उन्होंने जिन-जिन विकट समस्याओं के समाधान का बीड़ा उठाया था उन सभी के पीछे भारत राष्ट्र की भलाई एवं उन्नति की ही भावना थी। आज भले

ही हम न तो छुआछूत की लानत को पूरी तरह से मिटा पाये हैं, न ही साक्षरता के अभियान में अपेक्षित सफलता प्राप्त कर सके हैं और न ही हिन्दी को अँग्रजी के स्थान पर प्रतिष्ठित कर पाए हैं, जिसके लिए भारतीय संविधान में प्रावधान है। यह हमारे राष्ट्र नेताओं की अकर्मण्यता का परिणाम तो है ही परन्तु भारतीय समाज का प्रबुद्ध वर्ग भी इससे अपने आप को अलग नहीं मान सकता। हमें इन समस्याओं पर पूरी गहराई से विचार करना होगा और इनके त्वरित समाधान के लिए अपने आपको सजग करना होगा, अन्यथा हमें राष्ट्रपिता की आत्मा स्वर्ग से भी कोसती-फटकारती रहेगी। इस संदर्भ में मैं यहाँ 'जनसत्ता' हिन्दी समाचार पत्र के ६अक्टूबर, २००५ के दिल्ली संस्करण में श्री प्रियदर्शन के छपे एक लेख की ये पंक्तियाँ उद्धृत करना उचित समझता हूँ, 'क्या यह विचार कि किसी एक विकल्प को स्वीकार करने या नकार देने भर का मामला है - गाँधी मनुष्यता की अन्तरात्मा में धँसा वह तीरे नीमकश है, जिसकी ख़लिश लगातार बनी हुई है। गाँधी जी महज़ विचार है या मनुष्य होने के हमारे विवेक पर लगातार दी जा रही एक ऐसी दस्तक का नाम है, जिसे हम कुछ वक्त तक अनसुना भले ही कर दें मगर अन्ततः उसकी ओर मुड़ने पर मज़बूर होते हैं? वह कौनसी चीज़ है जो मेधावी लेखकों, बुद्धिजीवियों, क्रांतिकारिओं और नेताओं से भरी इस विराट बीसवीं सदी में भी गाँधी जी को अपने ढंग से अद्वितीय बनाये रखती है और जितना हम उनसे दूर होने की कोशिश करते हैं, उतना ही उनके बारे में सोचने को मज़बूर होते हैं या कम से कम जो सवाल उन्होंने उठाये है, उनको अनदेखा नहीं कर पाते।'

इसलिए स्पष्ट है कि गाँधी जी द्वारा चलाए गए कार्य हमें हमेशा प्रेरित करते रहते हैं कि हम उनके प्रति किसी प्रकार की कोताही न बरतते हुए, उन्हें आगे बढ़ाते हुए अन्ततः उन्हें सम्पन्न करने का प्रयत्न करें। हिन्दी के संदर्भ में और भी अधिक अनिवार्य हो जाता है क्योंकि हिन्दी हमारे राष्ट्र की अस्मिता की पहचान है और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी हमारी अस्मिता की पहचान है और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर हमारे गौरव की प्रतीक भी है। अब यह भाषा विश्व स्तर पर मान्यता प्राप्त कर चुकी है, इसलिए वॉयस आफ अमेरिका, चाईना इन्टरनेशनल, स्टार टी.वी. आदि कई प्रसारण माध्यमों में हिन्दी कार्यक्रमों को महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। इसके अतिरिक्त जापान मॉरीशस, सूरीनाम, ग्याना, फीजी, ब्रिटेन, त्रिनीदाद, रूस, अमेरिका, कैनेडा आदि देशों में हिन्दी के पाठ्यक्रम भी चलाये जा रहे हैं, पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जा रही हैं और उन देशों में रहने वाले कई लेखक हिन्दी में लेखनकार्य भी कर रहे हैं। यह हर्ष का विषय है कि गाँधी जी द्वारा आरम्भ किए हुए हिन्दी प्रचार कार्य ने हिन्दी को आज विश्व भाषा का रूप दे दिया है।

धर्म

देवेन्द्र सिंह चौहान 'सुरेश'

प्राणियों में सद्भाव सुमन खिलाये शुचि, परहित सरिस न धर्म कोई अन्य है।
सारे लोक में है वही पूज़नीय धर्मग्रंथ, वेद न कुरान गुरु ग्रंथ ये प्रणम्य हैं।।
पावन ये सृष्टि नहलाय दे जो प्रेम वृष्टि, घोल दे मिठास कवि वाणी वही धन्य है।
परिभाषा धर्म की न मिली कोई सार्वभौम, धर्मसार सरिता सुरेश को अगम्य है।।

पंथ अनेक जग मानव धर्म बना एक, त्रिज्या अनुरूप हो तो वृत्त बन पायेगा।
कट्टर जो भाव जाति पंथ के प्रवेश करें, कटुता विनाश सारे विश्व में समायेगा।।
मानव हित सुभग भरे जो सारे जन रहें, ईश प्रति विम्ब कण कलित दिखायेगा।
धार लें सुरेश शुचि पावन सुखद धर्म, सुप्त जन मानस में करुणा जगायेगा।

प्राणियों की पीड़ा देखि भरि आवें दृग अश्रु, प्रेमरस पावन में सुमन खिले रहें।
सुख शांति भरे वह मिटें द्वेष दम्भ मन, लेकर विनम्र भाव सुजन मिले रहें।
हिंसा, चोरी, चुगली से दूरी भी बनाये रखें, अनाचार के विरोध होंठ ना सिले रहें।
देशकाल स्थिति से धर्म भी बदल जाते, 'सुरेश' बलिदान में न कभी भी गिले रहें।।

हिन्दी

त्रिवेनी प्रसाद दूबे 'मनीष'

देवनागरी में ये पुष्पित,
हिन्द सभ्यता में यह पोषित।
संत कबीरा दर्शन इसमें,
तुलसी का अमृत है हिन्दी।।
संस्कृतियाँ अनगिन हैं इसमें,
गवई-गाँव, भिन्न हैं किस्में।
सूरदास की दिव्य दृष्टि है,
केशव की प्राकृत है हिन्दी।।
यह प्रसाद का चिर प्रसाद है,
छंदों में भी अमिट याद है।
प्रेमचंद की अमर कथाएँ,
भाव विश्व विस्तृत है हिन्दी।।
भूषण की साहस परिपाटी,
जोश जगाती हल्दी घाटी।
सरल मैथिली यह सम्मोहन,
माखन सी प्रचलित है हिन्दी।।
बच्चन नीरज की रचनाएँ,
बाल काव्य की नव उपमाएँ।
गीत अगीत रहे प्रतिबिम्बित,
दिनकर सी शोभित है हिन्दी।।
पंत पंथ की है कोमलता,
प्राण निराला की निश्छलता।
भारतेन्दु का अभिनव वर्णन,
अज्ञेय सी मुदित है हिन्दी।।
संस्कृत का दुलार मिला है,
रसखान रहीम का प्यार मिला है।
व्यथा बिहारी की सागर सी,
ज्ञान सुधा शोभित है हिन्दी।।
निखर चुकी है समालोचना,
गद्य पद्य साहित्यालोचना।
तकनीकी पत्रों से जुड़कर,
प्रतिदिन होती विकसित हिन्दी।।
गौतम ऋषि के तपसी पथ पर,
चलने को होती है तत्पर।
क्लिष्ट रूप या अपभ्रंशों से,
होती कुछ विचलित है हिन्दी।।

कनुप्रिया

शैल अग्रवाल

कनुप्रिया लड़की नहीं एक पहाड़ी नदी थी जब अपनी रौ में बहती तो सबको अपने साथ बहा ले जाती। सब कुछ अपने में समेटे हुए फिर भी सबसे दूर। एक ऐसा पुराना बरगद का पेड़, जो जितना बाहर दिखता था उससे कहीं ज्यादा जमीन के भीतर था। जिसकी छांव में थके लोग सहारा ले सकते थे और भूले भटके शांति और ठहराव। इसकी नित उठती शाखें पूरे तारों भरे आसमान को अपनी बाहों में भरने की सामर्थ्य रखती थीं। कनुप्रिया नाम कब और कैसे रखा गया उसे याद नहीं पर जब भी बच्चे चिढ़ाते कि उसका नाम कन्नु-प्रिया इसलिए है क्योंकि उसकी दोनों कंचे जैसी आंखें खेलते समय हरे, पीले, भूरे अलग-अलग रंगों में चमकती हैं, तो दादी अपना डंडा लेकर उस वानर सेना के पीछे पड़ जातीं। फिर रोती कनु को चुप कराते हुए कहतीं जब मेरी लाडो को बंसीवाला खुद ब्याहने आएगा तो तू ही बता वह बस प्रिया कैसे हो सकती है – वह तो कनुप्रिया ही होगी न – अपने कान्हा की प्यारी।

उम्र के बीस बसंत निकाल दिए कनु ने इस बंसीवाले के इंतजार में और फिर एक दिन अचानक उसकी शादी तय हो गई सुबोध से। सुबोध जो शादी करके तुरंत ही इंग्लैंड भी चले गए बिना कनु को बताए कि शादी क्यों की, इंग्लैंड जाना था इसलिए या फिर उनका और कनु का जन्मों का नाता था। कनु अकेले में चुपचाप कभी कान्हा की तस्वीर के कानों पर स्टैथस्कोप सजा देती तो कभी सुबोध के होठों पर बांसुरी। पर दोनों ही अटपटे से लगते और कनु के प्रश्न उत्तरों के बिना बिन ब्याहे ही रह जाते।

वैसे भी कनु को प्रश्न पूछने की, चीजों को समझने की, कोई और न बताए तो रातदिन सोचने की, जब तक उत्तर खुद चलकर उसके पास न आ जाए, एक मजबूर सी आदत थी – बचपन से ही। लोग मरते हैं तो कहीं जाते हैं – फिर लौटकर क्यों नहीं आते – क्या कोई उन्हें पकड़कर कहीं बंद कर देता है – वगैरह-वगैरह?

दादी से पूछो तो बस एक ही जवाब – सब उस नीली छतरी वाले सांवले सलौने की मर्जी है।

कनु का बड़ा मन करता उस मनमौजी भगवान से मिलने को। कैसे वह इतनी अपने मन की करता है? कोई उसे रोकता-टोकता नहीं, कनु को तो हर समय टोका जाता है – कनु यह मत करो, यहां मत जाओ, वहां मत बैठो। अच्छे बच्चों को यह नहीं करना चाहिए, वह नहीं। परेशान कर दिया था कनु को अच्छे बच्चों के इस खेल ने – आखिर क्यों – कब तक लोग उसे बच्चा समझते रहेंगे? बड़ों से तो कोई नहीं कहता कि अच्छे बड़ों को भी इतना डांटते नहीं रहना चाहिए।

कनु की इस हरदम सोचने और समझने की आदत ने दादी को, पापा को, सबको बहुत परेशान कर रखा था। जब दादी बहुत परेशान हो जातीं तो कनु को पापा के पास भेज देतीं। अब दादी कोई इन्साइक्लोपीडिया तो थीं नहीं। वैसे भी वह पांच साल की कनु के आगे कब की हार मान चुकी थी।

"दादी, दादी तुम कितनी बड़ी हो?"

"पचपन की" दादी ने हंसकर बताया था।

"पचपन क्या होता है?"

"पांच और पांच"

"अच्छा! तब तो तुम करीब-करीब मेरी जितनी ही बड़ी हो – तभी तो मेरी तुम्हारी इतनी दोस्ती है।"

कनु को बात कुछ-कुछ समझ में आ रही थी।

"मां तो हम लोगों से बहुत बड़ी है, पूरी पच्चीस की। हर समय धूप में मत बैठी रहा करो" दादी के सूखती अमियों जैसे झुर्रियों वाले हाथों को सहलाते हुए कनु ने चिंता व्यक्त की। अब वह आश्वस्त थी कि अगले पांच साल में वह भी दादी जितनी बड़ी हो जाएगी और फिर मम्मी-पापा, सभी उसकी बात

सुना करेंगे। सुबह ही तो तीस तक की गिनती उसने मास्टरजी को सुनाई थी और उसने खूब अच्छी तरह से उंगलियों पर, कंचों के संग गिनकर देख लिया है कि पच्चीस से तीस बस पांच ही बड़ा होता है।

अचार के लिए सुखाई अमियों को लेने आई मां ने भी यह सब सुना और रात को खूब हंस-हंसकर पापा को भी बताया। सुनकर पापा भी हंसे बिना नहीं रह सके थे! जोड़ घटाने में बिल्कुल तुम पर गई है तुम्हारी लाडली, मां को छेड़ते हुए पापा ने कहा था। अगले दिन कनु ने मां को पकड़ लिया – "मां, मां पूरा आसमान बस नीला क्यों हैं?"

मां ने जान छुड़ाने के लिए कह दिया क्योंकि भगवान जब आसमान बना रहे थे उनके पास बस एक नीला ही रंग था। अचानक कनु की बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो गया। पानी, आसमान क्यों सब दिन में हल्का नीला, रात में गहरा नीला है – क्यों सब कुछ, चारों तरफ, हरदम बस वही नीला का नीला। भगवान ने तो जरुर नीला रंग ही खत्म कर दिया होगा, तभी तो घास हरी बनानी पड़ी।

ऊंचे पहाड़, समुंदर, बादलों पर छलांग मारता, दौड़ता, कूदता, जहाज बड़ी कनु को उसके बड़े-बड़े प्रश्नों के साथ लेकर, आखिर इंग्लैंड पहुंच ही गया। सद्यस्नाता की तरह नहाया धोया देश बड़ा ही मनमोहक लग रहा था। इसके माहौल में भी एक ठंडी-सी दूरी, एक ताजगी थी बिल्कुल कनु के अपने स्वभाव की तरह। उसके मन की गर्मी भी खुद-ब-खुद यूं ही बाहर नहीं आ भभकती थी पर अगर उठ आए तो दरिया बन आसपास की हर चीज को नम करने की सामर्थ्य रखती थी। कनु की उत्सुक आंखें पूरा माहौल पी गई – सब कुछ कितना नया और अजनबी था – पैरों की बैसाखी पर चलती वे अक्सर बेचैन होकर दौड़ जातीं लंबे कौरिडोर के इस पार से उस पार तक, अपने सुबोध को ढूंढने के लिए। अचानक दो फैले हाथों ने उसे रोक दिया – "क्या मैं आपका सामान देख सकता हूं?"

"क्यों नहीं" कनु ने खुद को इस अप्रत्याशित हमले से बचाते हुए कहा और खुद ही यंत्रवत् वह भारी सूटकेस ऑफिसर के आगे रख दिया। पर उसकी चंचल आंखें उड़ती बयार-सी फिर से आसपास की हर चीज पर डोलने लगी। "इसे खोलिए" आवाज जंज़ीरों में जकड़ी कनु पुनः धरातल पर आ गिरी।

इधर उधर ढूंढने के बाद आखिर पर्स के एक कोने में उसे चाभी मिल ही गई। कनु ने चाभी ताले में लगाई और घुमाने ही जा रही थी कि एक जाने पहचाने भय ने उसे आ घेरा। बस अभी चौबीस घंटे पहले की ही तो बात है जब पापा ने बार-बार कपड़े निकालकर, बार-बार तह करके, बार-बार गिन-संभालकर, फिर भैया को उस पर बिठाकर, बड़ी मुश्किल से यह अटैची बंद की थी – वह भी इस हिदायत के साथ कि अब इसे घर जाकर ही खोलना। ऑफिसर की आंखों में देखने के लिए अपनी लंबी गर्दन बहुत लंबी खींचकर, एड़ियों पर उचकती, कुछ शरमारी कुछ सकुचाती छोटी सी कनु ने कहा - "मैं इसे खोल तो दूंगी पर वायदा कीजिए आप इसे बंद कर देंगे क्योंकि असल में न तो मुझे अटैची लगानी आती है और न ही बंद करनी। इतनी ज्यादा भरी हुई तो बिल्कुल ही नहीं।" वयस्क कपड़ों में लदी-फदी उस बालिका पर ऑफिसर को तरस आ गया। "चलो रहने दो, बस इतना बताओ इसमें कोई ड्रग वगैरह या कोई अवैध सामान तो नहीं है?"

"नहीं" कनु ने बड़ी राहत और इत्मिनान के साथ जवाब दिया।

"तुम्हारा जहाज कहां-कहां रुका था?" "बस जैनेवा में" बेहद अनमने मन से वह बोली। उसे बाहर जाने की जल्दी थी। सुबोध पता नहीं कितनी देर से उसका इंतजार कर रहे होंगे और देर से पहुंचना कनु की आदत नहीं थी। पापा कहते थे कि अगर तुम समय की कद्र करोगे तो समय तुम्हें इज्ज़त देगा। "तुमने वहां घड़ी वगैरह नहीं खरीदी?" ऑफिसर ने फिर से पूछा। अब कनु को विश्वास हो चला था कि वह ऑफिसर निश्चय ही कुछ खिसका हुआ है।

"नहीं बाबा, सिर्फ तीन ही पौंड तो हैं मेरे पास। तुम्ही बताओ इनमें कोई घड़ी वगैरह कैसे खरीदी जा सकती है?" कनु ने प्रश्न पर प्रश्न पूछा। "तुम्हारी अपनी घड़ी कहां है या घड़ी नहीं लगातीं?"

कनु का ध्यान अपने हाथ पर गया। घड़ी वाकई वहां नहीं थी। उसने जरुर उतारकर जेब में रख दी होगी। जेब में हाथ डाला निश्चय ही घड़ी वहां नहीं थी। दूसरी जेब में हाथ डाला, घड़ी वहां भी नहीं

थी। जमीन पर पड़े सैंडविच बाक्स को उठाया। उसमें आधी खाई सैंडविच के साथ नई नवेली दुल्हन के सारे गहने तो पड़े हुए थे पर घड़ी नहीं थी। परेशान कनु ऑफिसर से बोली, "मेरी कोई चीज कभी नहीं खोती। यहीं कहीं होगी, अपने आप मिल जाएगी।"

आफिसर उसकी अबोध लापरवाही से थोड़ा घबरा गया था। "क्या यह सब असली है?"

"मैं नकली गहने नहीं पहनती। असल में तो मैं कैसे भी गहने नहीं पहनती।"

"तुमने क्या यह सब पासपोर्ट पर लिखवाए हैं?" उसने थोड़ा चिंतित हो कर पूछा?

"आप ही लिख दीजिए, पर संभालकर। बस कुछ गिराइएगा नहीं। सब आपस में उलझ गए हैं।" खुला हुआ डिब्बा उसकी तरफ बढ़ाती कनु बोली। अब ऑफिसर वाकई में डर गया था। "नहीं, नहीं, रहने दो, तुम जा सकती हो।" उसने डिब्बा बंद किया, कनुप्रिया को दिया और उसकी अटैची उठाते हुए उसके साथ बाहर आ पहुंचा। "तुम पहली बार अकेली आई हो न?"

"हां!"

"किससे मिलने आई हो?" "अपने पति से। अब हम यहीं रहेंगे, जब तक वह यहां से कोई अच्छी सी डिग्री न ले लें और फिर उसके बाद हम पूरा युरोप, अमेरिका वगैरह सब घूमने जाएंगे।" कनु की आवाज में बच्चों जैसा उत्साह था।

"अच्छा, अच्छा!" उसकी स्वप्न–श्रृंखला को बीच में ही तोड़ता हुआ ऑफिसर बोला, "तुम अपने पति को पहचान तो सकती हो न?" कनु की आंखों में आश्चर्य, अविश्वास और उपहास की ज्वाला एक साथ कौंधी और ऑफिसर डरकर तीन कदम पीछे हट गया।

"क्यों नहीं?"

"तुम इससे ज्यादा और कुछ नहीं बोलती क्या?" दोस्ती का हाथ बढ़ाते हुए उसने कनुप्रिया की तरफ देखा।

पर कनु की आंखें तो अब बस सुबोध को जल्दी से ढूंढ लेना चाहती थीं।

ऑफिसर ने अटैची बाहर बरामदे में रखी और जाने के लिए मुड़ गया। वह समझ गया था कि यहां दुर्घटना तो हो सकती थी पर कोई गड़बड़ घोटाला नहीं। कनुप्रिया की आंखों में क्रांतिकारी–सा, एक योगी–सा, एक अबोध शिशु–सा, सच्चाई का अथाह सागर जो लहरा रहा था। कनुप्रिया की आंखों की वह दीवानगी, वह कुछ कर गुजरने की ललक ऑफिसर को अच्छी लगी।

"बेस्ट आफ लक।" वह मुस्कराकर जाते–जाते, पलटकर बोला।

अब कनु के आगे एक सीमेंट और कंक्रीट का घना जंगल था। लोग बेतहाशा इधर से उधर भागे जा रहे थे। हजारों आवाजें चारों तरफ परिंदों–सी उड़ रही थीं। कनु को सब कुछ दिखाई दे रहा था, सुनाई दे रहा था, सिवाय सुबोध के। सुबोध, जिसके लिए कनु, उनकी पत्नी कनु, अकेली यहां तक पहुंची थी, उसी सुबोध का दूर–दूर तक कहीं, कोई पता नहीं था। कैसे करे, क्या करे कनु की समझ में कुछ नहीं आ रहा था।

"कहां जाना है बहन?" पूछते हुए अचानक किसी ने उसकी पीठ पर हाथ रख दिया। इस अप्रत्याशित सहानुभूति से कनु तृप्त भी हुई और घबराई भी। कौन सा एहसास ज्यादा मजबूत था कहना मुश्किल है।

"मैंसफील्ड।"

"मैं रग्बी जा रहा हूं। चलो तुम्हें मैंसफील्ड छोड़ दूंगा। ज्यादा दूर नहीं है।"

"नहीं, नहीं, इसकी जरुरत नहीं। यह आ ही रहे होंगे।" कनु की आवाज सहज और मीठी थी। उस अजनबी के अपनेपन ने कनुप्रिया के मन को छू लिया था।

"तुम फोन क्यों नहीं कर लेती कि भाई वहां से चला भी है या नहीं।"

"आप ठीक कहते हो।"

कनु ने नंबर जेब से निकाला और उसी के साथ रखा वह तीन पौंड में से एक पौंड का सिक्का भी। "आप ही इसे तोड़कर चेंज दे दीजिए।"

सहृदय सरदारजी को उस पर बहुत दया आ रही थी शायद उनकी अपनी बहन इसी उम्र की अबोध और नासमझ थी। "अपनी जेब में इसे संभालकर रख बहना। पराए मुल्क में अकेली खड़ी है तू।"

कनुप्रिया की आंखें भर आई– उसे किसी का अहसान लेना कभी अच्छा नहीं लगा – विशेषतः स्नेह और सहानुभूति का तो हरगिज ही नहीं। क्योंकि एक यही ऐसा कर्ज था जिसे उतारने में वह स्वयं को, सदैव ही, असमर्थ पाती थी। पर आज उस जन्मों के बिछड़े भाई ने उसे ऋणी कर ही दिया था। उस अपरिचित की आवाज में इतना प्यार – इतनी परवाह और इतना आग्रह था कि कनु चाहकर भी मना कर ही न सकी।

दस पैनी का वह सिक्का कब उसकी हथेली पर आया, कब वह टेलीफोन बूथ की तरफ घूमी, कब उसने नंबर घुमाया, कनु को कुछ पता नहीं चला – दूसरी तरफ से आवाज आ रही थी कि डॉ• सुबोध तो आज छुट्टी पर हैं और अपने किसी व्यक्तिगत काम से लंदन गए हुए हैं। कनु ने आश्वस्त होकर फोन रख दिया। देर सबेर ही सही उसका बंसी वाला उसे लेने आ रहा था – फोन रखते ही उसकी आंखें धन्यवाद देने के लिए उस फरिश्ते भाई को ढूंढ़ने लगीं पर फरिश्ते कब जमीन पर ज्यादा देर तक टिकते हैं? चेहरों की रेलपेल में वह नव परिचित चेहरा कब का गुम हो चुका था।

कनु ने एक लंबे इंतजार के लिए पास पड़ी बेंच पर खुद को सैटल कर लिया। अभी मुश्किल से दो ही पल बीते होंगे कि सामने से आते हुए, मुस्कराते नवयुवक ने झुककर उसे विनम्र नमस्कार किया – "आपने मुझे पहचाना? बताइए तो भला मैं कौन हूं?" नवांगुत नौजवान बार-बार पूछे जा रहा था।

कनु की आश्चर्यचकित आंखें इस मिलनसार देश की एक भी बात नहीं समझ पा रही थी। पहले सहृदय सरदारजी, अब पहेलियां बुझाता यह अपरिचित – अचानक स्मृति की बिजली कौंधी, धुंध के बादल हटे और सुबोध के चचेरे भाइयों के चेहरे एक के बाद एक बरसाती बूंदों से उसकी आंखों के आगे टपकने लगे – "ध्रुव भैया" विश्वस्त कनु ने मुस्कराते हुए कहा।

"अरे भाभी, आपने तो मुझे पहले कभी देखा ही नहीं, फिर कैसे पहचाना?" लुका-छिपी के इस खेल में अब कनु को भी आनंद आ रहा था।

"मेरे पास एक जादू का चश्मा जो है।"

इसके पहले कि कनु का वाक्य पूरा हो दोनों ही खुलकर हंस पड़े। "और, जनाब कहां छुपे हुए हैं?" कनु ने इधर-उधर सुबोध को ढूंढते हुए पूछा – ध्रुव भैया के कुछ कहने के पहले ही सामने वाली दीवार के पीछे से सुबोध निकल आए फिर तो बस एक, दो, तीन, चार, पांच क्या पूरे बीस-पचीस लोगों का तांता लग गया – एक के बाद एक।

"स्वागत भाभी!"

"वेलकम होम कनुप्रिया!" कनु की समझ में नहीं आ रहा था उस प्यार और स्वागत का, इस अपनेपन का कैसे जवाब दे। "धन्यवाद! धन्यवाद!" मारे आभार के वह दुहरी हुई जा रही थी, अचानक एक सख्त सा चेहरा अपने लंबे-चौड़े शरीर सहित, ठीक उसके आगे आकर खड़ा हो गया।

"मैं तुम्हारा जेठ हूं और यह तुम्हारी जेठानी। हमारे पैर छुओ।"

कनु की हंसती तरल आंखों में विद्रोह तैर आया। पहले जेठ वाला प्यार और व्यवहार तो करो फिर यह अधिकार मैं स्वयं ही दे दूंगी। अभी के लिए बस यह परिचय की नमस्ते ही काफी हैं। जुड़े हुए हाथों के संग दंपति की तरफ देखती विनम्र कनु, कुछ कह भी तो न पाई। सामान कब और किस कार में गया कनु को पता नहीं, हां उसने खुद को जरुर एक कार में सुबोध और कथित जेठ-जेठानी के संग पाया। ध्रुव भैया स्टीयरिंग पर थे जिससे लग रहा था कार उन्हीं की थी।

"तो तुमने साहित्य पढ़ा है?" रोबीली आवाज कनु का इंटरव्यू ले रही थी।

"जी, कोशिश की है।"

"शेक्सपीयर के कौन–कौन से नाटक पढ़े हैं।?" "इस शब्द का उच्चारण क्या होगा?" वगैरह–वगैरह जैसे निरर्थक शब्द, इधर से उधर मुड़ती, स्क्रीच करती कार की तरह, हर दिशा से आकर बारबार कनु के कानों से टकरा रहे थे – अनचाही कर्कश आवाजें कर रहे थे। थकी कनु पर तरस खाकर नींद ने आगे बढ़ झट से उसे अपने आंचल में छुपा लिया।

एक भी जवाब न मिलता देखकर आखिर में खिसयाये जेठजी ने अपनी बंदूक सुबोध पर तान दी – "यह किस बच्ची को उठा लाए हो?"

अगली सुबह चहल–पहल वाली थी। घर मेहमानों से खचाखच भरा हुआ था। पर सिवाय उस कमरे के जिसमें कनु सोई थी उसने तो अभी अपने घर का एक कोना भी ठीक से नहीं देखा था।

"सोई आराम से?" सुबोध ने गुसलखाने से सर निकालकर, अधसोई पत्नी से प्यार से पूछा – "नाश्ते में क्या लोगी?"

"मैं बनाती हूं।" ज्यादा सो लेने पर कुछ शर्मिंदगी के साथ कनु बोली।

"नहीं–नहीं थोड़ा आराम और कर लो, अभी तो सिर्फ साढ़े छह ही बजे हैं। मुझे जरा अस्पताल एक राउंड लेने के लिए जाना पड़ेगा। कपड़े सब मैंने वाशिंग मशीन में धो दिए हैं। तुम बस सब के लिए थोड़ी खिचड़ी बना लेना। सारा सामान, मसाले वगैरह सब वहीं चौके में ही रखे हैं।"

कनु बिजली की तरह बिस्तर से निकली और दो ही मिनट में कपड़े बदलकर चौके में थी। वहीं चाय का दौर चल रहा था। अनगिनत देवर और जेठों में से किसी एक ने खिचड़ी चढ़ा भी दी थी। सब कुछ जल्दी–जल्दी निपट रहा था। शेरवुट फोरेस्ट घूमने जाना था। इतने सारे छड़ों के बीच एक भी देवरानी नहीं थी। हां एक जेठानी जरुर थी और कनु को जेठानियों से बहुत डर लगता था। हिंदुस्तान में वह कई जेठानियों से मिल चुकी थी।....... रंग थोड़ा सांवला है। कद थोड़ा लंबा है। उठने बैठने का कोई शऊर नहीं। अभी बच्ची ही तो है, दब ढककर चार दिन ससुराल में रहेगी तो सब सीख जाएगी – खुद ही खिल जाएगी – वगैरह–वगैरह जैसी टिप्पणियों के बिना खाने की कौन कहे, इनका तो पानी तक नहीं पचता। वैसे भी दूरबीन के नीचे रखे कीड़े की तरह ऑब्जरवेशन में रहना कनु को कभी अच्छा नहीं लगा, वह चुपचाप अपने कमरे में वापस लौट आई।

धीरे से वाशिंग मशीन खोली कपड़े सुखाने के लिए तो इस विदेश की धरती पर पहली आहुति, उसकी प्रिय छह साढ़े छह गज की कांजीवरम की साड़ी आधुनिक तकनीकियों से कोप न कर पाने की वजह से मारे शर्म के डेढ़ गज की होकर मुंह छुपाए बैठी थी। कनु की लाख कोशिशों के बावजूद भी उसका सिकुड़ा–सिमटा अस्तित्व अपने पूर्ण निखार पर फिर कभी भी नहीं आ पाया।

कनुप्रिया जग गई। ऐसे नहीं चलेगा। चार्ज स्वयं लेना पड़ेगा। गीले बालों को तौलिए से सुखाकर बाहर आई तो सारी आंखें उसी पर थीं। अपने बालों का जादू कनु जानती थी पर उस स्तंभित मौन से तो वह कुछ ज्यादा ही शरमा गई – विचलित हो उठी। और लड़खड़ाती कनु ने नमस्कार कहकर एक बंद अलमारी का पट यूं ही खोल डाला। अनायास ही कुछ ढूंढने लगी। तभी अचानक कथित जेठजी पीछे से आकर कानों में फुसफुसाए – "इन बालों को यूं ही खुला रखा करो। कितनी सुंदर लगती हो – खाम्ख्वाह ही इन्हें जूड़े चोटी में बांधे रहती हो।"

कनु मुड़ी और बिना कुछ बोले, कमर पर मनमानी कर रहे बालों को कसकर जूड़े में बांध दिया।

अगली सुबह खुशनुमा थी। इंग्लैंड का रुप अपने यौवन पर था। चारों तरफ गुलाब की कतारें महक रही थी। बिजी–लिजी और पुटैनिया से सजी संवरी, वरांडे में लटकी हैंगिंग बास्केट्स खुद अपने ही फूलों के बोझ से जमीन तक लटकी जा रही थीं और हरा–भरा लॉन कमरे के कालीन से भी ज्यादा गुदगुदा और खुशनुमा लग रहा था। कनु का मन किया प्याली बाहर ले जाए, ओस से नहाए, हरी-भरी घास पर नंगे पैर **दौड़े**, लुढ़के, पुड़के और फिर वहीं बादलों को ओढ़कर सो जाए। वैसे भी कनु करे भी तो क्या करे? मेहमान अपने–अपने घर जा चुके थे और सब सामान अपनी–अपनी जगह पर।

अस्पताल के सिटिंग रुम में अप्रवासी भारतीयों का झुंड एशियन प्रोग्राम देखने के लिए आतुर बैठा था। कनु की उत्सुक आंखें भी स्क्रीन पर जा अटकी। बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था "अपना ही घर समझिए" कनु के गले में पत्थर अटक गया और आंखें धुंधली हो आई... यह और अपना घर? एक भी तो पहचानी शकल नहीं हैं यहां पर। उदासी के बादलों ने उसे चारों तरफ से आ घेरा। अपने घर में तो मां, दादी, काकी, भैया, पापा सब होते हैं। कैसे मान ले इसे वह अपना घर? इस अकेले घर में तो दूर-दूर तक अक्सर कोई आवाज ही नहीं आती। कभी-कभी तो इतना सन्नाटा रहता है कि फोन पर बात करते समय खुद अपनी ही आवाज अनजानी सी लगने लगती है। डबडबाई आंखों को कनु सबकी नजर बचाकर पोंछने लगी पर कनु को क्या पता था कि काफी देर से कोई उसे देख रहा था, पढ़ रहा था — "मैं आतिया शरीफ हूं। मेरे पति इसी अस्पताल में काम करते हैं। मैं आई थी तो मुझे भी तुम्हारी तरह बहुत अकेला-अकेला लगा था। शाम को घर आना, गपशप करेंगे, कुछ अपनी कहेंगे, कुछ तुम्हारी सुनेंगे। तुम चाहो तो मुझे आपा भी कह सकती हो वैसे भी तुम मेरी छोटी बहन आनिया की तरह ही लगती हो, बिना बाजी के बात-बात पर रो पड़ने वाली।"

बाजी की प्यार भरी गुदगुदी से कनु के सारे आंसू खिलखिला पड़े और अगले दिन ही वह दौड़कर उनके यहां जा पहुंची।

प्यारी-प्यारी रोटी-दाल की महक ने कनु की रुठी भूख को वापस बुला लिया। आपा ने कनु को जी भरकर प्यार दिया और साथ में दीं जी भरकर हिदायतें, पास के ग्रोसरी वाले का पता और नंबर, पोटैटो पीलर, श्रेडर, बेलन और न जाने क्या-क्या? कनु को पहली बार लगा कि वह वाकई में कनुप्रिया है तभी तो बंसीवाले ने अपने आप ही बहन को उसके पास भेज दिया।

"मैं खुद चलते-फिरते तुम्हारे हाल-चाल लेती रहूंगी। फोन भी करुंगी और ऐसे ही टपक भी पड़ूंगी।"

"जरुर बाजी।" कनु ने गद्‌गद्‌ होकर कहा था। और फिर वह सच में टपक ही तो पड़ी थीं, वह भी अगली सुबह ही। कनु सुदामा की तरह बौखला गई थी कहां बिठाए, क्या खिलाए?

"आप चाय पिएंगी या काफी? ठंडी या गरम?"

"अरे बाबा जरा बैठने तो दो।" बाजी हंसकर बोली थीं, "चलो चाय पी लेते हैं।"

कनु के पैरों में पंख लग गए, दौड़कर कैटल रख आई। उसकी बच्चों जैसी विस्मित आंखों में जोशीला कौतुक था। अपनी बाजी के बारे में वह सब कुछ जान लेना चाहती थी — अच्छा तो आप लाहौर से हैं, हम अजमेर से। अजमेर और लाहौर की बातें करते-करते कैसे पूरे चार घंटे निकल गए दोनों में से किसी को कुछ पता ही नहीं चला। "अब तो भई, चाय पिला ही दो।" अचानक बाजी बोलीं।

"अरे राम मेरी कैटल" कनु को मानो करेंट लग गया। वह तीर की तरह किचन में पहुंची। कैतली के नाम पर बस एक प्लास्टिक का हैंडल कनु का बड़ी दयनीयता और बेबसी से इंतजार कर रहा था। कनु की आंखों में चमक आ गई। इतना सुंदर चमचमाता रंग। उसके अंदर का कलाकार सब कुछ भूलकर, पास पड़ी ट्रे और चाकू उठा तल्लीन हो गया। पीछे खड़ी बाजी मंत्रमुग्ध सी देख रही थीं। एक सधे कलाकार के हाथ सज संवरकर ट्रे पर दो सूरजमुखी के फूल बड़ी नजाकत से मुस्कुरा उठे। बाजी ने छोटी बहन को गले से लगा लिया। उसका माथ चूमा और कहा "तुम सच में बहुत अच्छी हो, बहुत ही प्यारी। चलो मैं अब तुम्हें चाय पिलाती हूं।"

"नहीं! चाय तो मैं ही बनाउंगी" कनु ने कुछ शरमाते, कुछ झेंपते हुए कहा और दोनों बहनें खिलखिलाकर हंस पड़ी।

महीने दिनों में बीत रहे थे। गुनगुनी सुबह को कनु चाय के संग चुस्कियों में पी रही थी। "अब क्या करने का इरादा है?" छुट्टियां बिताने आए हुए जेठजी ने कनु की तरफ मुड़कर पूछा।

"नहाने जाऊँगी।" कनु ने अलसाते हुए जवाब दिया।

"मैं आज की नहीं भविष्य की बात कर रहा हूं। एम•ए• हो, कोई नौकरी कर सकती हो। तस्वीरें बनाकर बेच सकती हो। सुबोध को थोड़ी आर्थिक मदद मिल जाएगी। तुम्हारे आने से खर्चे बढ़े हैं। कल को घर गृहस्थी भी बढ़ेगी। एक तनख्वाह में कैसे गुजर होगी? तुम्हें खुद ही सोचना और समझना चाहिए। पढ़ी-लिखी हो। शादी का अर्थ सिर्फ पति के साथ सोना और मस्ती करना ही तो नहीं होता?"

नंगे शब्दों की मार कनु के कान, गाल सब लाल कर गई। समझ नहीं पा रही थी कि वह क्या सुन रही है – क्यों सुन रही है? कल ही की सी तो बात है जब अपनी नई जिन्दगी की शुरुआत करते हुए उसने और सुबोध ने दोस्त बनकर कसमें खाई थीं – हर समस्या, हर उलझन और परेशानी को मिलजुलकर समझने, सुलझाने और सहने के वादे किए थे। क्या यही मिलाजुला प्रयास है कि अपने घर का नंगा हालचाल दूसरे आकर सुनाएं। कनु के प्रयास में तो कभी दूसरों के काम के लिए भी कमी नहीं आई। फिर उसके अपने सुबोध ने कैसे उसे इस लायक भी नहीं समझा। शर्म और ग्लानि से वह जमीन में धंसी जा रही थी बस जमीन ही नहीं फट पा रही थी। विवेक और संतुलन ढूंढती, सामान्य रहने के प्रयास में वह सहज होकर बोली – "आप हमारे मेहमान हैं। बैठक और मेहमान घर के दरवाजे आपके लिए सदैव ही खुले रहेंगे पर दया करके, उसके आगे, मेरे शयनकक्ष और स्नान-गृह में झांकने की कोशिश कभी मत करिएगा क्योंकि यह न सिर्फ शिष्टाचार के विरुद्ध है वरन् अभद्रता भी है। उन बन्द दरवाजों के पीछे क्या होता है वह हमारा निजी मामला है।"

इतना दंभ? इतनी दृढ़ता? वह भी एक अबोध सी लगती बालिका में? जेठजी आश्चर्यचकित थे पूरी तरह से बौखला गए थे।

"बात को ज्यादा गंभीरता से मत लो। मैंने तो बस ऐसे ही वार्तालाप को चालू रखने के लिए यह सब कुछ कह दिया था। तुम काम करो या न करो इससे मुझे कोई फरक नहीं पड़ता – वैसे भी मैं तुमसे ग्यारह-बारह साल तो उम्र में बड़ा हूं ही। और यह सुबोध वगैरह तो सब मेरे चेले-चपाटे रहे हैं। हमेशा मेरे कहे अनुसार ही चले हैं। ऐसे तो मुझसे आज तक किसी ने भी बात नहीं की।" स्वस्थापित जेठजी ने इधर-उधर हवा में हाथ फेंकते हुए कहा।

अचानक कनु सब कुछ जान गई – समझ गई। सामने बैठे व्यक्ति का हकलाता हलकापन। परिस्थिति की अनर्थ-अर्थहीनता। घटनाओं की मनगढ़ंत उपज और अदृश्य तमाचों की चुनचुनाती तिलमिलाहट। उसके अपने सुबोध तो इस अहं और नियंत्रण के ताने—बाने में कहीं थे ही नहीं और फिर गैरों से कैसी नाराजगी? क्योंकि नाराज भी तो बस उसी से हुआ जा सकता है जिसके साथ कोई राज हो, जो अपना हो। "आप और चाय पिएंगे? लीजिए तब तक यह अखबार पढ़िए।" तुरन्त आए अखबार को उन्हें पकड़ाकर कनु उठ खड़ी हुई। इस एक ही घटना ने उसे हमेशा के लिए वयस्क और जिम्मेदार बना दिया था। गृहिणी के दायित्वों से अवगत करा दिया था। कौवे, गिद्ध और चूहे किस गृहस्थी में यदा-कदा नहीं घुस जाते? पूरा घर साफ करना होगा। हर जाले को तोड़ना होगा। गन्दी धूल को हटाना होगा और सेंधे भरनी होंगी। दरवाजे पर दस्तक थी लगता है कोई आया है। सामने बाजी की नन्ही नताशा सजी-धजी खड़ी थी। हरी फ्राक और गहरे काले बालों में हरे रिबन के बीच उसका मुस्कुराता गुलाबी चेहरा बिल्कुल ताजे गुलाब सा खिल रहा था।

"मौसी-मौसी यह बादल नीला ही क्यों होता है। बताओ ना, आप तो आर्टिस्ट हो?"

लगता है भगवान के पास रंग ही नहीं मिट्टी भी एक ही तरह की बची थी। या शायद उसे कनु और नताशा जैसे इन्सान बनाना पसन्द है। नीला रंग पसंद है। बात रंग की नहीं, रस की ही होती है। जो बात गौतम बुद्ध को घर छोड़कर समझ में आई थी कनु को घर में रहकर समझ में आ गई। नीला कृष्ण-कन्हैया बांसुरी के संग और उसके सुबोध स्टैथस्कोप के संग, दोनों ही अच्छे लगे कनु को आज। कनु खिलखिलाकर हंस पड़ी – "क्योंकि मेरी गुड़िया रानी भगवान को नीला रंग अच्छा लगता है। आसमान नीला हो या पीला कोई फरक नहीं पड़ता। बस आदमी को खुश रहना चाहिए।"

"तो मैं अपने आकाश को हरा रंग लूं?" नन्हीं नताशा ने अविश्वास और बाल सुलभ कौतुक से पूछा।
"क्यों नहीं!" कनु ने प्यार से निशू की तरफ देखते हुए उत्तर दिया। हरे आकाश की कल्पना मात्र से नन्हीं निशू हंस–हंस कर दोहरी हुई जा रही थी और कनु ने आगे बढ़कर उसे गोद में उठा लिया।

यह ठिठका हुआ पल

डा. **हरजेन्द्र चौधरी**

गर्मी की छुट्टियों में
गाँव से आई हुई दादी के एक हाथ में
ठंडे पानी का लोटा है
दूसरे हाथ से खोलने ही वाली थी
जालीदार दरवाज़े की कुण्डी
कि दसेक साल के बिट्टू ने
पकड़ कर रोक दिया है दादी का दूसरा हाथ
'नहीं दादी, दरवाज़ा मत खोलना
गरमी की दोपहर में ऐसे ही
प्यासे बन कर आते हैं ! लुटेरे, डाकू, हत्यारे।
अख़बार में रोज़ ख़बरें छपती हैं
यह दिल्ली है दादी !'
दादी धँसी जा रही द्वंद्व के दलदल में,
प्यासों को पानी पिलाना सबसे बड़ा धरम
लुटेरों को भीतर बुलाना सबसे बड़ा ख़तरा
दादी के अस्तित्व का क़तरा-क़तरा ठिठक-सा गया है
किनतों तक भरा है लोटा ठण्डे पानी से
प्यास से सूख रहे होंगे कण्ठ शरणागतों के
ठिठकी खड़ी दादी
ठिठकी खड़ी परम्परा
ठिठकी खड़ी संस्कृति
ठिठकी खड़ी इंसानियत
वर्षों-दशकों से भी लम्बा होता जा रहा
यह ठिठका हुआ पल...

जये ! जन-जन को दे जगा

डा. राम देव प्रसाद सिंह

जये !
तू जयन्ती है
वसुमती बसन्ती है
अशेष रसवन्ती है
अरी ! आर्ष परम्परा की
तू आर्य कुलवन्ती है
ऋद्धि है, सिद्धि है
तू पुरुष की प्रसिद्धि है
अणिमा है, महिमा है
गुरू की भी गरिमा है
श्रद्धा है, भक्ति है
अनन्त की अभिव्यक्ति है।

तू तृषा नहीं, तृप्ति है
प्रभात की प्रदीप्ति है
तू भ्रांति नहीं कांति है
शांति है, सुशांति है
निखिल लोक काया की
तू कालजयी कांति है

तू 'प्रजापतिश्चरति गर्भे'
मम 'योनिर्महद्ब्रम्ह'
प्रकृतेः कियमानानि
गुणैः कर्माणि सर्वशः
'सर्व मंगल मंगल्ये'
'विद्यायामृतमश्नुते'
आदि आप्त मंत्रों का
अविलम्ब आधान कर

तू गार्गी की गरिमा
व मदालिसा की महिमा को
पुनरपि प्रमाण कर
सदाचार संहिता पर
साधकार व्याख्यान कर
निखिल लोक कल्याणार्थ
'सर्व श्रेयस्करी' सीता की
शाश्वत परम्परा में
स्वरूप का सन्ध्यान कर
तुच्छ भौगिक भोगों को
अपने 'सतीमन' से न लगा
जये ! तू जयन्ती है,
जन-जन को दे जगा।

सभी भाषाएँ नागरी में भी लिखी जायँ

प्रो. अनन्तराम त्रिपाठी

"संस्कृत लिपि या देवनागरी दक्षिण वालों को अरुचिकर होगी, यह बिल्कुल गलत कल्पना है। अरुचिकर हो सकती है गलतफ़हमी के कारण। कुछ लोग देवनागरी को 'हिन्दी लिपि' कहते हैं। लेकिन उसका हिन्दी के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। मराठी भी उसमें लिखी जाती है, संस्कृत लिखी जाती है, अर्धमागधी लिखी जाती है, पाली, नेपाली लिखी जाती है, यानी प्राचीन भाषाओं में तीन महत्व की बड़ी भाषाएँ संस्कृत, अर्धमागधी और पाली देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। और अर्वाचीन भाषाओं में मराठी और नेपाली तो हैं ही। बाकी उत्तर भारत की सब भाषाएँ, थोड़े-थोड़े फ़रक के साथ नागरी में ही लिखी जाती हैं। इस वास्ते यह हिन्दी लिपि है, यह भ्रम ही है। हिन्दी का देवनागरी से कतई ताल्लुक नहीं। देवनागरी सारे भारत को जोड़ने वाली लिपि है।

१. मेरा पहला उद्देश्य है कि दक्षिण की चारों भाषाएँ नज़दीक आयें। अब देखिये, कन्नड़ के उत्तम साहित्यकार हैं बेंद्रे, पुट्टप्पा, कारंत आदि। इनका कुछ भी साहित्य तमिल वाले पढ़ते नहीं, अगरचे तमिल और कन्नड़ बिल्कुल नज़दीक हैं। और तमिल में जो अनेक ग्रंथ हैं वे कन्नड़ वाले नहीं पढ़ते। इस वास्ते मैं चाहता हूँ कि प्रथम दक्षिण की भाषाएँ नज़दीक आ जाएँ। नागरी से बहुत जल्दी उनकी एकता हो सकेगी।

२. सारा उत्तर भारत एक हो जाये। नाहक अलग-अलग लिपि न चलायें। उड़िया का 'क' देखिये, उसका इतना बड़ा ढाँचा है। फेटा बड़ा है। पहचानने की जो चीज़ है 'क', वह है छोटा। नागरी में 'क' बड़ा हो जायेगा, इतनी ही बात है। नागरी से यह सारा उत्तर भारत एक हो जायेगा।

३. दक्षिण और उत्तर भारत एक हो जायें।

४. भारत और एशिया हो जायें।

५. भारत और विश्व एक हो जायें।

यह पाँचवा कार्यक्रम जब शुरू होगा, जहाँ विश्व की एकता लाने की बात होगी, वहाँ मैं नागरी प्लस रोमन ऐसा मान सकता हूँ।"

पूज्य बिनोवा जी का यह कथन आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना करीब ५० वर्ष पहले था। आज भी इस पर गहन चिन्तन की आवश्यकता है।

आशा है कि भारत के सभी राज्यों एवं विश्व की सभी भाषाओं के जागरूक चिन्तक इसको व्यवहार में लाने का प्रयास करेंगे।

नागरी महिमा

डा. हेमवती शर्मा

नागरी है भारत की राष्ट्र-लिपि,
तथा व्यावहारिकता है इसकी शक्ति।
नागरी का करें हम प्रचार-प्रसार,
इसी में निहित है हमारी राष्ट्र-भक्ति।।

नागरी है भारत की एकता की कड़ी,
इसे बननी चाहिये सम्पर्क-लिपि।
यदि हमें आगे बढ़ाना है अपने देश को,
तो व्यवहार में अपनानी है राष्ट्र-लिपि।

नागरी है भारत का प्राण,
बढ़ानी है हमें इसकी शान।
नागरी से ही बनेगा भारत महान्,
सब मिलकर करें हम इसका गान।।

नागरी है हमारी भाषाओं की लिपि,
बँधेगा इससे देश एकता के सूत्र में।
अन्य भाषाओं की बन जाये यह लिपि,
तो भारतवासी बँधेंगे परस्पर स्नेह-सूत्र में।

स्मृतियों के सारांश

पूर्णिमा वर्मन

शिवानी ने अपने बारे में बहुत कम लिखा है। लेकिन उनके संस्मरणों और यात्रा विवरणों में उनके दार्शनिक व्यक्तित्व की निष्कपट सुंदरता अपनी पूरी तरलता के साथ बिखरी दिखाई देती है। उनकी कोमल संवेदनाएं, सशक्त लेखनी के साथ इस तरह आकार लेती हैं कि हर चित्र सजीव हो उठता है। उनके ये सजीव चित्र पाठकों के हृदय में अमर हो कर बसते हैं और बार-बार स्मृतियों के द्वार खटखटाते हैं।

उनके पात्र हों या घटनाएं या फिर उद्धरण, वे दादी मां की कहानियों की तरह हज़ार बार दोहराने पर भी पुराने नहीं पड़ते। इसका एक प्रमुख कारण ये है कि उनकी संरचना में ऐसी मानवीय कोमलता गुंथी हैं जो लोक से सीधी जा जुड़ती हैं। जब वे सौंदर्य का वर्णन करती हैं तो विशेषण और उपमाएं उनकी लेखनी से फुलझरी की तरह छूटते हैं। जब वे संस्मरण लिखती हैं तो यही फुलझरी जादू की छड़ी बन जाती है और घटनाओं में रंग भरती चली जाती है। उनका यही रंगीन जादू दिखाई देता है इन पंक्तियों में—

बलराज साहनी के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए वे कहती हैं—

"हमारे दूसरे अंग्रेज़ी के अध्यापक थे बलराज साहनी, जो बाद को फिल्म जगत के नक्षत्र बन के चमके। गोरा रंग, सजीला व्यक्तित्व, लाल खद्दर का कुर्ता और सवा लाख की चाल! लगता था कोई दूल्हा ही झूमता चला आ रहा है। वे हमारी अंग्रेज़ी कविता की क्लास लेते थे..."

और उनकी पत्नी दमयंती के विषय में शिवानी कहती हैं—

"दम्मो दी गज़ब की आनंदी युवती थीं। गोरा रंग, बेहद घुंघराले बाल, जो उनके सलोने चेहरे पर कुंडल किरीट बन कर छाए रहते, कानों में लंबे लंबे लाल चेरी बने बुंदे और खड्ग की धार-सी तीखी सुभग नासिका! अब जब किसी धारावाहिक में उनके बेटे परीक्षित को देखती हूं, तो बार बार उन दम्मो दी की याद हो आती है, जो मुझे परीक्षा के सन्निकट त्रास से क्षण-भर को मुक्ति दिलाने बरबस अपने कमरे में खींच ले जातीं, "ए पढ़ाकू लड़की! क्या हर वक्त किताबों में घुसी रहती है? चल महफिल जमाएं।..... वैसी मंजीरे सी खनखनाती हंसी और चुहल से चमकती बुद्धिप्रदीप्त आंखें क्या कभी इस जीवन में देखने को मिल सकती हैं?"

अपनी प्राध्यापिका मिस साइक्स की संथाल परिचारिका का वर्णन करते हुए वे कहती हैं—

"केवल एक मोटी धोती का परिधान, पुष्ट जूड़े पर लगा जवापुष्प, कोबरा की पीठ सी चमकती सुचिक्कन काली नंगी पीठ। उस घोर कृष्णवर्णी संथाल चेहरे का सबसे बड़ा आकर्षण थी, उसकी विद्युत सी धवल दंत पंक्ति। मेज़ पर झुकी स्वामिनी बड़ी देर तक लिखती पढ़ती रहतीं और वह उनके चरणों के पास स्वामिभक्त श्वान-सी चुपचाप बैठी रहती। उसका कंठ अत्यंत मधुर था और हमें उसने कितने ही विचित्र स्वर लहरी के संथाल गाने सिखाए थे।

और बेगम अख्तर के विषय में —

"...बैंगनी रंग की जार्जेट की साड़ी, बांहों में फ्रिल लगा ब्लाउज़, जैसा कि उन दिनों चलन था, हाथों में मोती के कंगन, कानों में झिलमिलाते हीरे, अंगुली में दमकता पन्ना, कंठ में मोतियों का मेल खाता कंठा, पान दोख्ते से लाल-लाल अधरों पर भुवन मोहिनी स्मित, ये थीं अख्तरीबाई फ़ैज़ाबादी।"

उनका आदर्श हो या उनका यथार्थ, वह चरित्र के करघों पर कस कर ताना गया है और उसमें ऐसे बूटे बुने गये हैं कि सादगी से बेपनाह सौन्दर्य की रचना होती है। कथ्य की सरलता, भावों के सौंदर्य और भाषा की बेमिसाल शक्ति से भरे प्रस्तुत हैं कुछ प्रेरणाप्रद अंश। इनसे बहुत कुछ सीखा जा

सकता है— लेखन के विषय में भी और जीवन के विषय में भी। यह टुकड़ा है स्मृति कलश की भूमिका से—

"लिखा मैंने बहुत है, अर्थोपार्जन भी प्रचुर किया है, किंतु इस कृतित्व को कभी व्यापार नहीं बनाया। पुरस्कार, यश, ख्याति की कामना से कभी कलम नहीं थामी। पुरस्कार सनद मिले भी तो वाग्देवी की कृपा से बिन मांगे मोती ही झोली में पड़े, झोली कभी फैलाई नहीं— दरिद्रान् भव कौंतेय मा प्रयच्छेदश्वरे धनम्।

यही पंक्ति मेरी प्रेरणा बनी रही और सदा रहेगी। इतना अवश्य जान गई हूं कि लेखनी यदि ईमानदारी से चलती रहती है, स्वयं नीचता की परिधि नहीं लांघती, तो भले रुष्ट इष्ट मित्रों की प्रताड़ना आहत करे, कोई कभी अनिष्ट नहीं कर पाता। यदि स्वयं ईर्ष्या द्वेष मात्सर्य से अछूते रहे, तो कोई पीठ में छुरा भोंक भी दे, तो वह वार कभी घातक नहीं हो पाता, अपितु आत्मा को और उज्ज्वल करता है और लेखनी को निश्चित रुप से अधिक गतिशील बनाता है।"

छोटी–छोटी कहानियां सुनाने में वे निष्णात हैं और इन कहानियों के ज़रिये वे बड़ी से बड़ी बात को सरलता से कह गुज़रती हैं। ऐसी सरलता जो व्यक्तित्व की दृढ़ता को लोहे की मज़बूती देती है तो चरित्र की चमक को सोने सा निखार, फिर भी विनम्रता और कोमलता में कहीं कमी नहीं आती। जब वे अपने बारे में बात करती हैं तो उनका यह हुनर पाठक को विभोर कर देता है—

"नीरद बाबू ने अपने एक सद्यःप्रकाशित निबंध में, एक रोचक प्रसंग उद्धृत किया है – 'एक बार शिकारी कुत्तों के दल को आता देख, कुटिल सियार ने अपनी सहमी बिरादरी से कहा, 'डरो नहीं, इन शिकारी कुत्तों से बचने के लिए मेरे पास हमेशा, शत कौशल रहते हैं, निरापद, निश्चिंत बैठे रहो। मेरे रहते तुम्हें कोई चिंता नहीं।' किंतु मुर्गा बोला, 'भाइयों, मैं तो एक ही उपाय जानता हूं। मेरे पास शत कौशल तो नहीं हैं, पर एक उपाय अवश्य है, चट से उड़ कर पेड़ की डाल पर बैठ जाना।' मैं भी अपने बंग बंधुओं से यही कहता हूं, 'तुम्हारे शत कौशल तुम्हें ही मुबारक हों। मैं तो स्वल्पबुद्धि प्राणी हूं। एक ही उपाय जानता हूं, वही मेरा एकमात्र कृतित्व है, लिखना।'

आज नीरद बाबू की यही पंक्ति दोहराने को जी चाहता है। मेरा भी एक ही कृतित्व है, लिखना। न कभी शत कौशल सीखने की इच्छा रही, न सीखने की चेष्टा ही की। नाना आघात, भय, संघर्ष, डरावनी धमकियां, आत्मीय स्वजनों की प्रताड़ना, मान–अपमान, तिरस्कार, अवहेलना इन सब शिकारी कुत्तों से अब एक निरापद अपना अस्तित्व सेंतती आई हूं। शत कौशल सीख कर नहीं, एकमात्र उपाय अपना कर, ऊंचे पेड़ की डाल पर बैठ कर। उस एकांत में, उस डाल पर बैठने में जो अलौकिक अनुभूति प्राप्त होती है, यह वही जान सकता है, जो शत कौशलों की अवहेलना कर इस एकमात्र कौशल को अपना पाया है। विधाता ने भले ही लाख उठाया–पटका हो, वह सर्वशक्तिमान किसे नहीं पटकता! पर इस डाल पर बैठने के सुख से कभी वंचित नहीं किया। यही मानती हूं कि अंत तक विपत्ति की भनक पाते ही ऊंची डाल पर, उचक कर बैठ सकूं। जब स्वयं राम झरोखे बैठ कर सबका ब्यौरा ले सकते हैं, तो डाल पर बैठ, जग का ब्यौरा लेने का यह सुख, मुझे भी अंत तक देते रहें।"

आज शिवानी हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी लेखनी के ये सुदृढ़ परचम आने वाली पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त करते रहेंगे। उन्होंने अपनी रचना यात्रा में जिस भाषा–शैली को जन्म दिया, जिसका पोषण और विकास किया वह हर किसी के बस की बात नहीं। उनका आभिजात्य अक्षर अक्षर में साफ झलकता है और समकालीन लेखकों में अपने परिष्कृत स्वभाव और अध्ययनशील मनोवृत्ति के कारण बिलकुल अलग दिखाई देता है।

साँसें डरी डरी

डॉ. सुरेश प्रकाश शुक्ल

हवा प्रदूषित हुई,
धूप भी साफ नहीं मिलती,
लगती है ज़िन्दगी तंग,
धीरे-धीरे गलती।
जिधर गुज़रते विकट भीड़ है,
राहें जाम भरी।
निश्चित नहीं काम कब होगा,
साँसें डरी-डरी।।
अन्धी दौड़ परिस्थिति ऐसी,
सबको है खलती।
लगती है ज़िन्दगी तंग,
धीरे-धीरे गलती।।
याद आ रहा गाँव हमारा,
वह प्यारा बचपन।
लगता कभी न आ पायेगा,
मनभीगा सावन।
अब तो भूख, अभाव, उदासी,
इच्छाएँ चुभती।
लगती है ज़िन्दगी तंग,
धीरे-धीरे गलती।।
नर्म बिछौना चाहे जितना,
नींद नहीं आती।
घोर तनाव उमंग छीनता,
देह थकी जाती।।
अरमानों की नौधा बगिया,
तिल-तिल कर जलती।
लगती है ज़िन्दगी तंग,
धीरे-धीरे गलती।।
कोई नहीं जानता कब तक,
मौत बुलायेगी।
इन आँखों से मोह और कब,
माया जायेगी।।
सतरंगी सपने दिखला कर,
रोज हमें छलती।
लगती है ज़िन्दगी तंग,
धीरे-धीरे गलती।।

उससे मिलना

उषा राजे सक्सेना

'मे आई गेट यू समथिंग मैम...?

एला ने सिर उठा कर देखा, मुस्कराता हुआ एक आकर्षक युवक काले पैंट और कमीज़ पर एप्रेन बांधे, हाथ में ऑर्डर-पैड और पेन पकड़े, मुस्कराता हुआ, उससे ऑर्डर लेने की मुद्रा में शालीनता और मुस्तैदी से खड़ा है।

उसे देख कर एला डनबार के आंखों के सामने वह दृश्य सजीव हो उठा। जब सात वर्ष पूर्व वह अपने बाप के शक्तिशाली व्यक्तित्व के नियंत्रण से छुटकारा पाने के लिए रोष में एडिनबरा स्थित उसके विशाल घर तथा सुख–सुविधाओं को पल-भर में छोड़ कर भागी थी। उस समय उसका आत्मविश्वास इस बुरी तरह से डगमगा रहा था कि वह सिवाय रेस्तरां में काम करने के अतिरिक्त कोई और काम करने की सोच ही नहीं पा रही थी। उसने पहली नौकरी ऐसे ही किसी रेस्तरां में पकड़ी थी। वह भी इसी तरह लोगों से ऑर्डर लिया करती थी। ग्राहक से बातें करते समय आकर्षक मुस्कराहट और हल्की-फुल्की फ्लर्टिंग अच्छे टिप के लिए ज़रुरी थी। वर्ना लंदन जैसे शहर में सिर्फ वेतन में कतई गुज़ारा नहीं हो सकता था।

गर्दन को ज़रा घुमा कर एला ने मुस्करा कर कहा, "सॉरी, मैं खयालों में कुछ ऐसी डूबी, कि तुम्हें देख ही नहीं पाई।"

"दैटस् ओ के मैम। कैन आई गेट यू, अ वेक-अप ड्रिंक? वाईन, बीयर और समथिंग मोर एक्साइटिंग? व्हाइल यू आर वेटिंग फॉर योर फ्रेंड।" उसने फिर एक आकर्षक मुस्कराहट एला की ओर फेंकी।

"फ्रैंड! हुँ-ह माई फुट, वह किसी का दोस्त नहीं हो सकता है।" एला ने मन-ही-मन कहा।

"जस्ट अ ग्लास ऑफ मिनरल वॉटर प्लीज! इफ यू डोन्ट माइंड" एला ने कहा। अगर वह ठीक समय पर नहीं आया तो मैं उसका इंतजार नहीं करुंगी। और फिर उसने घड़ी की ओर देखा, अभी सात बजने में दस मिनट बाकी थे।

वह अपने पिता से मिलने सिर्फ मिर्चा के कहने पर आई थी, वर्ना उसने तो उसे अपने जीवन से कभी का निकाल दिया था, पर क्या सचमुच वह उसके जीवन से निकल चुका था?...मिर्चा ऐसा नहीं मानता है। वह कहता है, "एला तुम्हारे मन में आज भी उसके लिए भावनाएं हैं, और उसकी यादें परछाई की तरह तुम्हारे साथ चलती हैं।" वाकई मानव मन गुत्थियों से भरा होता है। मैं भी भला उसे कहां भूल पाई। अक्सर रात में सपने उसकी यादों पर पड़ी धूल हटा दिया करते हैं।

वेटर ने पानी का ग्लास टेबल पर रखा तो एला की तंद्रा फिर टूटी।

'मन का संतुलन बनाए रखने के लिए, मुझे जिन और टॉनिक की सख्त ज़रुरत है पर उस जैसे सख्तजान व्यक्तित्व का सामना अल्कोहल से आए असंतुलन से करना ठीक नहीं है। मुझे शांत, सौम्य होने के साथ ही, पूर्णरुप से संतुलित भी होना होगा', एला ने सोचा। वेटर के जाने के बाद उसने फिर घड़ी पर नज़र डाली। पिछले पांच मिनट में वह दस बार घड़ी पर नज़र डाल चुकी थी। यदि अगले सात मिनट में वह नहीं आया तो मैं एक मिनट भी उसका इंतज़ार नहीं करुंगी...उसने खुद से कहा। सच बात तो ये है कि उसके व्यक्तित्व का सम्मोहन अब फिर उसपर तारी हो रहा था। एला का मन उससे मिलने को बेचैन हो उठा...कैसा लगता होगा वह। पता नहीं अपने हाई-फाई जीवन के बीच उसने कभी मुझे 'मिस' भी किया या नहीं? क्या लोगों का स्वभाव समय के साथ बदलता है? इतने दिनों में वह कुछ तो बदला होगा? मिर्चा का कहना है समय और परिवेश लोगों के स्वभाव और चरित्र पर असर जरुर डालता है पर वह व्यक्ति के जन्मजात गुण नहीं बदलता। शिशु अपने 'जेनेटिक्स' ले कर पैदा होता है। उसके चरित्र के सारे गुण बीज के रुप में उसमें जन्म से मौजूद होते हैं। परिस्थितियां और परिवेश उस पर

असर डालते हुए उसे गढ़ती हैं। पर व्यक्ति के मौलिक गुण सदा वही रहते हैं। व्यक्ति के 'जेनेटिक्स' उसे बदलने नहीं देते हैं। एला की यादे उसे उदिग्न करती हैं, क्या यह सच है, लोग पैदाइशी मृदु-भाषी, कठोर, निर्दयी, उदार या स्वार्थी होते हैं? क्या लोग सचमुच अपने वंशानुगत बनावट के दास होते हैं? एला के मन में तमाम प्रश्न उठ रहे थे और प्रत्येक प्रश्न के घेरे में उसकी उपस्थिति मौजूद थी। उसने सिर उठा कर रेस्तरां का निरिक्षण किया। एक छोटा सा कैफे-बार, जहां दिन में भी हल्का-सा अंधेरा रहता है, पर्दे गहरे लाल, केसमेंट के। लंबी खिड़कियां, नीले और लाल स्टेन-ग्लास की। कॉफी के प्याले, ग्लास और कुर्सियां 'अ बिट फंकी' उसने सोचा। संगीत रैज-मैटाज्म, वाल्यूम जरा ऊंचा।

सब कुछ उसकी पसंद के विपरीत है। एला ने जानबूझ कर यह जगह चुनी है। उसकी पसंद ऊंची है। वह हर चीज़ एक विशेष उच्च-वर्ग के मानदण्ड से देखता है। कुछ भी हो, एला ने मुंह बनाया, वह मुझसे मेरी ज़मीन पर मिलेगा। मुझे उससे न तो कुछ लेना-देना है न ही मुझे उससे कोई दहशत है। मैं अपना जीवन अपने ढंग से जीना चाहती हूं। मैं तो उसे भुला ही चुकी थी। पर मिर्चा का कहना है, वर्त मान को एक विशेष मोड़ देने से पूर्व, मेरा उससे एक बार मिल ही लेना ठीक होगा। वर्ना मेरा भूतकाल मुझसे सदा सवाल करता रहेगा और वह मेरे जीवन में सदा एक स्याह घेरे की तरह साथ चलता रहेगा, और मेरी कुंठाएं मुझे जीने नहीं देंगी।

सात साल। ठीक, सात साल, चार महीने, तीन दिन सात घंटे बाद मैं उससे मिलूंगी। क्या आज भी वह वैसा ही शानदार और प्रभावशाली होगा? क्या उसके चेहरे पर वही खूबसूरत मुस्कराहट होगी? एला का मन चंचल हो उठा। भावनाओं का ज्वार उसे उत्तेजित और नर्वस, दोनों ही कर रहा था।

तभी दरवाजे पर कुछ हलचल हुई। वह रेस्तरां के अंदर आ चुका था। वेटर संकेत से उसे एला का टेबल दिखा रहा था। आगे बढ़ने से पहले उसने मुस्कराते हुए हाथ हिला कर अपने आप का आभास एला को दिलाया। 'टिपिकल ऑफ हिम' एला जज्बाती हो उठी। वह दौड़ कर उसके गले से झूल जाना चाहती थी, उसकी बांहों में समा जाना चाहती थी। ओह! यह कैसा उन्माद! यह कैसी हलचल! अचानक उसकी रीढ़ की हड्डी सनसनाई, दिमाग में बगूला उठा, पेट में मछलियां फड़फड़ाई। स्नायु-तंत्र उत्तेजना से तन्नाई। अरे! यह सब क्या हो रहा है? ओ, शिट! वह उत्तेजित क्यों हो रही है? उसने अपने आपको कोसा। इतनी देर से संयत रहने का जो परिश्रम वह कर रही थी वह सब व्यर्थ गया न? एला बस रो पड़ने वाली थी कि उसने लम्बी सांस खींची और मिर्चा को याद किया, फिर संतुलित कदमों से उसकी ओर बढ़ी, वह हल्के से हंसा फिर आगे बढ़ कर प्यार के आवेग के साथ उसने उसे बांहों में भर लिया... और दनादन उसके दोनों गालों पर कई चुम्बन जड़ दिये। एला भाव-विभोर! उसकी बाहों में समाती चली गई... वह उससे फिर कभी बिछड़ना नहीं चाहती थी। 'ओह! मिर्चा अगर मुझे इस तरह इससे लिपटा, और भावातुर देखे तो भला क्या कहेगा।' उसने अपने भावनाओं के ज्वार को नियंत्रित करते हुए मन-ही-मन कहा।

उसने एला के कमर में हाथ डाल कर प्यार से उसे अपने और करीब कर लिया। एला को अच्छा लगा। वह उससे लिपटी, उसके बदन की गर्मी और स्पर्श को अपने अन्दर समोती, उसके कदम से कदम मिलाती टेबल की ओर बढ़ी।

टेबल के पास पहुंच कर उसने कुर्सी को हल्के से बाहर की ओर खींचा फिर दोनों हाथों से एला को सहेजते हुए, किसी साम्राज्ञी की तरह उस पर बैठा कर, अपना कैशमेयर टॉपकोट और स्कार्फ पास खड़े वेटर के हाथों में पकड़ाया, फिर कुर्सी पर बैठते हुए रेस्तरां और बार का निरीक्षण किया। उसकी शरबती आंखों में मनोरंजन भरा कौतूहल था। 'फनी प्लेस'। उसने मुस्कराते हुए एला के समूचे अस्तित्व को आंखों में भरकर, संतुष्ट भाव से देखा।

वही, वही, बिल्कुल वही, वह कहीं से भी नहीं बदला था। शायद उसने, उसे ऐसी जगह पर बुला कर गलती की। सच! वह ऐसी जगह जाने का बिल्कुल आदी नहीं है। एला को याद आया, उसकी पसंद कभी भी सिवाए, हिल्टन या डोरचेस्टर से कम नहीं रही है। पर आखिर मैंने उसे बुलाया ही क्यों?

यह सब मिर्चा का कसूर है, उसने भन्नाते हुए खुद से कहा। उसी ने कहा था इसीलिए तो। इस तरह, अपने मन को समझा कर वह थोड़ी संतुष्ट हुई।

'तुम्हारी चिट्ठी मिली तो बहुत अच्छा लगा। वर्ना मैंने तो मन को समझा ही लिया था कि शायद तुम मुझसे कभी सम्पर्क ही नहीं करोगी।''

''सच मैं तुम्हें पत्र कभी न लिखती पर मिर्चा ने कहा इसलिए लिख दिया। पर तुमने भी तो कभी कोई चिट्ठी नहीं लिखी।' एला ने हल्के रोष और मान से कहा।

''ऐस मत कहो एला, मैंने तुम्हें कई पत्र लिखें, पर सभी पत्र मेरे पास, 'रिटर्न टू द सेन्डर' के नोट के साथ वापस आ गए। तुमने अपना कोई फारवर्डिंग एड्रेस या फोन नम्बर भी तो नहीं छोड़ा।'' उसने उसी गहरी, प्रभावशाली और संतुलित आवाज़ में एला की आंखों में सीधा देखते हुए कहा। वह भला कभी गलत हो सकता है, एला को वे बीते हुए दिन याद आ गए, जब घर में केवल एक ही व्यक्ति सही हो सकता था। और वह था 'वह'।

''मैं तुमसे नाराज़ जो थी, तुम्हारे ताना-शाही में मेरा दम घुट रहा था।'' एला ने बिगड़ कर कहा।

''घर छोड़ते समय तुमने कहा था तुम स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहती हो, और अपने अनुभव एकत्रित करना चाहती हो। तुम वयस्क थी, साथ ही तुम मेरी सुनती भी कहां थी। तुम्हारा मुझ पर से विश्वास जो उठ चुका था।''

''तुम्हें सबकुछ याद है। तुम बिल्कुल नहीं बदले। क्या मैं ही हमेशा गलत होती थी?'' एला ने संयम बरतते हुए भी उस पर सीधा हमला किया। उसका मन उद्वेलित हो रहा था। भावनाओं का ज्वार उठ और गिर रहा था।

वह एला के मन में उठते द्वंद्व को समझ रहा था। अतः उसने बड़े ही करीने और चतुराई से विषय बदला। वह एला को अच्छे मूड में देखना चाहता था। एला भी उसे कहां 'अपसेट' करना चाहती है। पर उसकी दमित ग्रंथियां उसे संभलने दें तब ना।

''अच्छा तो एला, बताओ न तुम्हारा काम कैसा चल रहा है। तो तुम 'मर्चेट एन्ड मिल्स' में पार्टनर हो गई हो।'' उसने मुस्कराते हुए कहा तो एला का आत्मविश्वास सूरज की पहली किरण सा जगमगा उठा।

''यप्प।'' एला चिड़िया की तरह चहकी।

''दैट्स ग्रेट। लेट्स सेलिब्रेट।'' कहते हुए उसने चुटकी बजा कर वेटर को बुलाया। वही सेविल रो के 'वेल-कट' कपड़ों का चयन, वही शानदार व्यक्तित्व, वही स्वरों की गूंज, कहीं कोई बदलाव नहीं। आंखों के कोरों पर उभर आई खूबसूरत 'लाफिंग लाइन्स' उसे दुनियां का सबसे आकर्षक व्यक्ति बना रही थी। शायद इसीलिए तमाम औरतें उसपर मरती हैं। जब हंसता है तो उसका चेहरा कोमल और आकर्षक हो उठता।...और मिर्चा, मिर्चा की खूबसूरती उसके सहजता और सरलता में हैं। उसमें कोई आडंबर नहीं है। उसके लिए कपड़े कोई मायने नहीं रखते हैं। 'कपड़े सिर्फ तन को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक हैं' मिर्चा कहता है। वह हफ्तों एक टी-शर्ट, टैटी जीन्स और चाइनीज टेक-अवे खाकर गुज़ार सकता है। उसे बाहर जाने की जरुरत नहीं, वह किचन में मसालों के साथ 'एक्सपेरिमेंट' करते हुए रिलैक्स करता है।

वह मेनू हाथ में उठा कर एला की ओर देखता है, पल भर को एला की आंखें उसकी आंखों में उलझ जाती हैं। वह मुस्करा कर एला के पसंद के चिकन-टीक्का और शीख कबाब के साथ बोजुले की विंटेज आर्डर करता है।

एला के अंदर भावनाएं उथल-पुथल करती जोर-शोर से हुल्लड़ मचाने लगती हैं, उसे उसकी पसंद याद है। एला ठगी सी रह जाती है। वह उससे ढेरों प्रश्न करना चाहती है जाने क्या-क्या कहना-जानना-पूछना चाहती है पर उसकी ज़बान तालू से चिपक जाती है। बस इतना ही कह पाती है ''तुम्हारा, काम कैसा चल रहा है?'' यह भी कोई प्रश्न है। स्टूपिड कहीं की! वह खुद को डांटती है।

"बढ़िया, बहुत बढ़िया, काम बहुत बढ़ गया है। अब मेरी यात्राएं सिर्फ यू•के•तक ही सीमित नहीं हैं, मेरा एक पैर सदा हवाई जहाज में रहता है। अब बिज़नेस दुनियां के हर कोने में फैल गया है.. कभी अमेरिका, कभी इंडिया, कभी जापान..." कहते हुए वह हंसता है तो उसकी दंत-पंक्तियां झिलमिला उठती हैं।

"साथ ही वाइन, विमेन और..." एला का 'पास्ट' उसे उकसा गया और फिर उसने व्यंग्य करते हुए ताना मार ही दिया। ओह! शिट, एला अपने आप को धिक्कारते हुए ग्लानि अनुभव करती है। लगता है वह फिर लड़ने पर उतारु है और अब सब कुछ स्पॉइल कर के ही दम लेगी। ओह! एला, यू स्टूपिड ग्रो-अप नाउ... उसने मन-ही-मन कहा।

वह एला के मन में उठते हुए ज्वार को समझता है, अतः मुस्करा कर एला के टिप्पणी को गोल करते हुए बातो का नया सूत्र उठाता है। एला उसकी आवाज सुनते-सुनते किसी और दुनिया में पहुंच जाती है। वह हां या ना में सिर हिलाते हुए गुज़रे दिनों को याद करती है। कब और कैसे सबकुछ गड़बड़ा गया? और उसके प्रति उसके मन में ढ़ेरों हीनता की ग्रंथियां बन गई। और वह उसकी छाया से भी घबराने लगी। अचानक वातावरण में खामोशी छा जाती है। वह एला से उत्तर की अपेक्षा करता है तो एला सकपका जाती है, और कहती है, "हां, तो तुम कुछ कह रहे थे?" वह फिर मुस्कराता है, और मेज़ पर रखे उसके हाथों को दोनों हाथों में लेकर सहलाते हुए कहता है, "यह पूछ रहा था कि खाने में और क्या मंगाऊं? गुलास, रोगन-जोश राइस, रशीयन सलाद और पीटा ब्रेड..."

"ओह! तुम्हें मेरी सारी पसंद याद है। तुम तो कुछ भी नहीं भूले हो!" एला उसकी ओर गर्वीली दृष्टि से देखती है और वह ठहाका लगा कर हंसता पड़ता है। वेटर ऑर्डर ले कर चला जाता है। एला की उंगलियां नैपकिन से खेलने लगती है, वह नैपकिन को उसके हाथों से अलग कर उसकी उंगलियों के साथ 'दिस लिटिल फिंगर' जैसा खेल खेलने लगता है। फिर कुछ रुक कर उसकी ओर देखकर कहता है, "एला, मैं चाहता हूं तुम मेरे साथ स्पेन चलो, और वहां 'विला-मारबेया' में मेरे साथ रहो।'

उसकी भौंहें प्रश्नवाचक मुद्रा में ऊपर की ओर उठ जाती हैं। अचानक वह रोष जो कुंडली मारे एला के अवचेतन में बैठा हुआ था फुंफकार उठता है, "क्या? मैं सबकुछ छोड़-छाड़ कर तुम्हारे पास स्पेन चली आऊं। ओह! तुम कितने स्वार्थी हो। सिर्फ अपने बारे में सोचते हो। यहां जो कुछ मैंने सात सालों में बनाया है वह क्या ताश के पत्ते है? जिन्हें तुम कहते हो, मैं फूंक मार कर उड़ा दूं। तुमने सदा मेरी भावनाओं के साथ खिलवाड़ किया है! तुम्हें पता है इसीलिए मैं तुमसे कितनी घृणा करती हूं? मैं क्या तुम्हारी दास हूं? कि बस तुम्हारे पीछे भागती रहूं!"

एला के आक्षेपों से उसका उसका चेहरा लाल हो कर अवसाद से पीला पड़ जाता है वह बड़े ही कोमल शब्दों में एला को समझाता है, "एला, मैंने जान-बूझ कर ऐसा कुछ भी नहीं किया। वे मेरे शुरु के दिन थे। संघर्ष के दिन थे। पैर जमाने के दिन थे। मुझे देर रात तक काम करना होता था। काम और काम के अलावा मुझे कुछ समझ नहीं आता था।' वह एला को शान्त करने की कोशिश कर रहा था पर एला का सुप्त आक्रोश ज्वालामुखी-सा आग उगल रहा था। वह उसकी कोई बात नहीं सुनना चाहती थी।

"मैं सब जानती हूं। मैं तुम्हारे रास्ते की रोड़ा थी। तुम आज़ादी चाहते थे। मेरी वजह से तुम उन औरतों से खुल कर नहीं मिल पातें थे इसलिए तुम अक्सर बाहर रातें बिताते थे। और मैं तुम्हारा इंतजार करती रहती थी। पर तुम्हें भला मेरी भावनाओं को समझने की क्या ज़रुरत थी।" एला की ग्रंथियां खुल रही थी। एक ओर वह तूफानी हो रही थी तो दूसरी ओर बर्फ सी ठंडी... साथ ही वह उसे उद्वेलित करते हुए भी उससे शान्ति और शीतलता की अपेक्षा रखती है। क्यों?

"एला तुम्हें मुझसे बहुत सी शिकायतें हैं। और तुम्हें पूरा हक है शिकायत करने का। मैं तुम्हारे दुःखों को समझता हूं। मैंने अपनी तरफ से पूरी कोशिश की कि तुम अकेला मत महसूस करो। तुम मार्था को पसंद करती थी इसलिए मैंने मार्था को तुम्हारी सहयोगिनी की तरह घर में रखा। मुझे दुःख इस बात का है तुम फिर भी अकेली रही। मैं तुम्हारे लिए सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं कर सका।" और उसके हंसते हुए चेहरे पर फिर दुख और क्षोभ साकार हो उठा। एला उसके चेहरे पर उमड़ आए दुःख से कातर

हो उठी। नहीं! नहीं! वह उसे इस करुण स्थिति में नहीं देख सकती है। उसे उसके साथ इतना कठोर नहीं होना चाहिए। काश! वह अपने उसी पुराने स्वाभिमानी अधिकार भरे जकड़न के साथ कहता, "इनफ एला, नॉट एन अदर वर्ड, यू आर कमिंग एन्ड दैटस् इट।" तो अच्छा होता।

"ठीक है एला, मैं तुम्हारी बात समझता हूं।" उसके स्वर में करुणा थी "तुम्हारी भावनाओं का मैं आदर करता हूं। तुम मुझसे रुष्ट हो तो क्या? मैं तुमसे सम्पर्क रखूंगा। जब तुम चाहोगी मैं तुमसे मिलने दुनियां के किसी भी कोने में आऊंगा। तुम्हें पत्र लिखता रहूंगा। फोन भी करुंगा"

उसने फिर विषय बदला, बोला, "यह ज़रा अलग हट कर रेस्तरां हैं, क्यों? कुछ अजीबो-गरीब। क्यों एला! पर तुम्हें पसंद है तो अच्छा है। वैसे खाना और सर्विस बढ़िया हैं। एला को अच्छा लगा कि आखिर उसे समझ तो आया कि उसकी दुनिया के अतिरिक्त भी कोई दुनिया है जहां और लोग भी सांस लेते हैं, जहां उसके अदब और कायदे नहीं चलते हैं, जहां लोग अपने निर्णय खुद लेते हैं। सारी ज़िंदगी उसने उसके जीवन को नियंत्रित किया। कहां जाना है? किससे मिलना है? कैसे रहना है? क्या खाना है? क्या नहीं खाना है? अंत में एक दिन वह उससे लड़ कर लंदन चली आई थी।

"मैंने तुम्हें बहुत मिस किया, एला। तुमने मुझे गुडबाय का भी अवसर नहीं दिया।"

"मिस किया शायद इसीलिए तुमने मुझसे कोई सम्पर्क नहीं किया!" एला ने फिर उसे ताना मारा।

"ओह! एला तुमने अपना कोई फारवर्डिंग ऐड्रेस नहीं दिया, फोन नंबर या इ-मेल का पता भी नहीं दिया। कहां चिट्ठियां भेजता?।"

एला फिर बिखर पड़ी, "मुझे मालूम है, तुमने मुझे खोजने की कोई कोशिश नहीं की, वर्ना तुम मेरे दोस्तों से मेरा पता पूछ सकते थे। इंटरनेट से मेरा ई-मेल पता खोज सकते थे। नहीं! नहीं! तुम्हें तो अपने व्यापार के आगे किसी का खयाल ही नहीं रहता है। तुम बला के स्वार्थी हो। कम-से-कम जीवन में एक बार तो इस कड़वे सच को स्वीकार कर लो।" एला की बातों से उसके हृदय पर फिर आघात होता है। उसके चेहरे से मुस्कराहट गायब हो जाती है, उसका स्वाभिमान धूमिल पड़ जाता है। उसका मन कराह उठता है। फिर भी वह सारे आक्षेपों को सहन करते हुए भी एला की बातों को मुस्कराते हुए एक खूबसूरत मोड़ देता है। बातों की कला में माहिर जो है, एला को उस पर प्यार आता है।

"अच्छा एला यह तो बताओ, तुम्हारी सोशल लाइफ कैसी है? आर यू गोइंग आउट विथ समवन?"

एला का गोरा रंग गुलाबी हो उठता है, हल्की सी शर्म उसकी आंखों में झांक जाती है। वह सकारात्मक अंदाज़ में सिर हिलाती है। वह उसके उत्तर पर मुस्कराकर अपनी प्रसन्नता प्रगट करता है।

"कौन है वह? उसका नाम क्या है? बताओगी नहीं एला?" उसकी आवाज में खुशी की खनक एला को सुनाई देती है।

"वह हंगेरियन है। उसका नाम मिर्चा है। 'मर्चेंट एन्ड मिल्स' में हम दोनों बराबर के पार्टनर हैं और हम साथ रहते हैं।" वह हल्के से दाहिनी आंख को दबाकर, मुस्करा कर पूछता है, "यह मिर्चा तुम्हारा खयाल अच्छी तरह रखता है क्या?" उसके स्वर में स्नेहपूर्ण चिंता थी। "तुमसे तो अच्छा ही रखता है।" एला ने फिर हंसते हुए स्नेहपूर्ण ताना मारा, उसने प्यार से एला का हाथ अपने दोनों हाथों में ले कर सहलाते हुए अत्यंत सावधानी एवं मधुर स्वर में कहा, "एला तुमने अपने पत्र में बहुत सी ऐसी बातें लिखी, जिनका मुझे पता ही नहीं था। मैं तुम्हारा अपराधी हूं। मैंने तुम्हें दुख दिया। मैं कितना स्वार्थी और अहमी हूं कि मैं तुम्हारे अंदर होते उथल-पुथल को समझ ही न सका। सच मैं तो निराश हो चुका था कि मैंने तुम्हें खो दिया और अब शायद तुम मुझे कभी नहीं मिलोगी।"

"फिर?" उसने प्रश्न किया, "तुम्हारा हृदय कैसे बदला?"

मैं जीवन के ऐसे मोड़ पर खड़ी थी जहां मुझे अपने जीवन के बारे में गम्भीर निर्णय लेने थे... ऐसे में मिर्चा ने कहा, "अपने भविष्य के लिए कोई भी निर्णय लेने से पहले मुझे अपने टूटे रिश्तों और उनसे उलझे भावनात्मक तंतुओं को सुलझा लेना चाहिए। नहीं तो बीता हुआ कल बार बार मुझे सताता रहेगा।"

"लगता है मिर्चा बहुत ही सुलझा हुआ व्यक्ति है, उसे जीवन का गहन अनुभव है।"

"हां, वो तो है।" कहते कहते एला खामोश हो जाती है। पिछली तमाम खट्टी-मीठीं यादें उसे भावुक कर देती हैं। आंखों में पानी भर आता है। गले में दर्द की गुठली अटक जाती है। आवाज़ रुद्ध हो जाती है। वह बहुत कोशिश करती है पर आंखें सारा राज़ खोल देती हैं।वह जेब से रुमाल निकाल कर एला के गालों पर लुढ़क आए आंसुओं को पोछते हुए उसका कंधा थपथपाता है और कुर्सी बदल कर उसके पास आ बैठता है। एला को अच्छा लगता है। वह उसके कंधों पर सिर रख कर सुबकने लगती है। "जिंदगी भर मैं यही कोशिश करती रही कि मैं ही तुम्हारे जीवन की केन्द्रबिन्दु बनी रहूं। तुम्हें पाने के लिए ही मैं तुमसे लड़ती रही। मैं नहीं चाहती हूं कि मैं मिर्चा के व्यक्तित्व में जीवन भर तुम्हें खोजती रहूं।"

"मुझे नहीं मालूम था, कि तुम पर मेरे व्यक्तित्व का इतना शक्तिशाली प्रभाव है।"

"क्यो नहीं, तुम मेरे पिता नहीं थे क्या?" "था, क्यों? हूं नहीं क्या?" उसने प्यार से उसे सहलाते हुए कहा, "मुझे दुःख है एला, मेरी वजह से तुम्हें बहुत दुःख पहुंचा। मेरी जिंदगी का वह सबसे मुश्किल समय था। वस्तुतः तुम्हारी मां की लंबी बीमारी और फिर उनकी असमय मृत्यु ने मुझे बिल्कुल अकेला कर दिया था। मुझमें अस्थिरता आ गई थी। मैं बिज़नेस की व्यस्तता में खुद को खो देना चाहता था। और उसी व्यस्तता में मैं तुमसे दूर होता चला गया..."

"नहीं, नहीं, ऐसा मत कहो, गलती हम दोनों की थी। हम दोनों ही आत्म-केन्द्रित, स्वार्थी, जिद्दी और अहमी हैं, आखिर है तो बाप-बेटी न।" कहते हुए वह आंसुओं के बीच खिलखिलाई।

कितना खूबसूरत और शानदार व्यक्तित्व है मेरी बेटी का। कितना सुखद है उसका सानिध्य, उसने सोचा। "क्या तुम मिर्चा से प्यार करती हो? क्या तुम उससे शादी करोगी?" उसके अंदर का आनंदित पिता बोला।

"हूं" एला ने हामी भरी, "उसने पिछले महीने ही प्रपोज़ किया था। वह मुझे पसंद है।" कहते हुए एला को विस्मय हुआ कि उसने अपने जीवन के सबसे महत्वपूर्ण निर्णय को पूरे आत्मविश्वास से उसे बेझिझक सुना दिया। और उसने बिना किसी विरोध के उसे स्वीकार कर लिया। कितना सहज विश्वास है उसे मेरे चुनाव पर। "मिर्चा कहता है, वह तुमसे मिलना चाहता है।"

"बहुत खूब! मैं भी उससे मिलना चाहता हूं, मिर्चा जरुर ही बहुत भाग्यशाली है।"

एला आत्मविश्वास से मुस्कराती है, उसकी ग्रंथियां खुल रही हैं। वह सहज होती जा रही है। "ऑफ-कोर्स डैड, आई शैल अरेंज अ मीटिंग सून।" कहते हुए एला खड़ी होती है। उसके बदन में पिता के सानिध्य का सुख और संतोष फुरहरियां भरता है। वह बिल का भुगतान कर के एला को बांहों में भर कर माथे पर प्यार को बोसा जड़ देता है। एला उसकी बाहों में नन्हें बच्चे-सी समा जाती है। उसे मिर्चा की बात याद आती है, हममें से कोई पूर्ण नहीं है, हम सब अधूरे हैं, पूर्णता मात्र हमारी एक कल्पना है।

- सारा जगत स्वतंत्रता के लिए लालायित रहता है फिर भी प्रत्येक जीव अपने बंधनों को प्यार करता है। यही हमारी प्रकृति की पहली दुरूह ग्रंथि और विरोधाभास है। - श्री अरविन्द
- द्वेष बुद्धि को हम द्वेष से नहीं मिटा सकते, प्रेम की शक्ति ही उसे मिटा सकती है। - विनोबा भावे
- जो सत्य विषय हैं वे तो सबमें एक-से हैं झगड़ा झुठे विषयों में होता है। - सत्यार्थप्रकाश

कष्ट ही तो वह प्रेरक शक्ति है जो मनुष्य को कसौटी पर परखती है और आगे बढ़ाती है। - सावरकर

सुखद परिवर्तन

अक्षय गोजा

उस एक असफलता के लिए
दोष खुद को देता रहा
होता रहा खुद से लांछित बार-बार।
विश्लेषित मन को करता रहा कि
मेरा दोष कहाँ था, क्यों था, कैसे था?
ग्लानि से स्वयं को घटियाता रहा।
घुलता रहा विष कितना ही
मन में, जीवन में।

वर्षों पहले आभास हुआ था
कि लगे रहो सत्य की ख़ोज में
वह काम हो जायेगा।
पर ख़ोज इतनी सहज, सरल, स्वाभाविक कहाँ थी?
जाने कितनी लम्बी हो सकती थी
जबकि काम करना था शीघ्रताशीघ्र।
फिर इसके लिए सत्य की ख़ोज?
कोई तुक नज़र नहीं आती थी।
ख़ोज माना कि मुझे करनी थी,
मगर हो सकती थी बाद में भी,
इसलिए ख़ोज की कोशिश में जम नहीं सका
अफ़सोस कि काम भी न कर सका
असफल ही रहा।
कितने ही अनुभवों, अनुभूतियों, अनहोनियों से
गुज़रने के बाद
ख़ोज में जुटा तो क्या,
हर काम सही, सरल, साधारण जान पड़ने लगा।
तब से हँसी आती है स्व-प्रताड़ना पर
जीवन की जटिलताओं पर आश्चर्य होता है।
गर्व होता है सही राह पर पहुँचने का,
जो ले जाती है उस मज़िल को
जिसमें समाहित है मज़िलें सभी।

अब मैं उत्साहित करता हूँ खुद को,
प्रेरित करता हूँ।
शांत, सक्रिय, प्रमुदित, आश्वस्त रहता हूँ।
सच, कितना सुखद परिवर्तन हुआ है
मेरे मन में, जीवन में।

मीडिया की हिन्दी भी पाठ्यक्रम का हिस्सा बने

डा. नवीन चन्द्र लोहनी

हिन्दी वालों के बीच लगातार एक चर्चा चल रही है कि हिन्दी पाठ्यक्रमों में आधार पाठ्यक्रम का चयन किस प्रकार किया जाये? मैं पाठ्यक्रमों में चयन के लिए मीडिया में प्रसारित नये सीरियलों, वृत्त-चित्रों, फिल्मों, विज्ञापनों सहित तमाम फीचरों को पाठ्यक्रम का एक आधार बनाने की पैरवी करता हूँ। मेरा सोचना है कि भविष्य में अगर हिन्दी के विकास के लिए कोई चीज़ ज़िम्मेदार होगी तो उसमें सर्वाधिक वे चयन होंगे जो वर्तमान हिन्दी के स्वरूप को उद्घाटित करने वाले होंगे। ज़ाहिर है कि इसमें सर्वाधिक, चर्चित विकासक्रम, संचार-माध्यमों द्वारा अपनाई गई हिन्दी का ही है जिसमें पारम्परिक हिन्दी बरक्स एक ऐसी हिन्दी खड़ी हो गई है जो आज अपने-आप में अधिक प्रभावशाली, आक्रामक और सुलभ तरीके से लोगों के बीच पहुँच रही है। ऐसी हिन्दी से मेरा तात्पर्य है जो संस्कृतनिष्ठ बोझिलता से बाहर है और जिसमें उर्दू उच्चारण भंगिमा या अँग्रेजी की उच्चारण भंगिमा का अतिक्रमण होते हुए बँगला, मराठी पंजाबी का हिन्दीकरण करते हुए एक अलग तरह की हिन्दी हमारे बीच आ रही है। मैं ऐसी हिन्दी का पक्षधर हूँ जो अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति के लिए किसी भी भाषा की शब्दावली को आत्मसात कर सके और उस परिवर्तन को हिन्दी की प्रवृत्ति के साथ तालमेल बिठाते हुए प्रयुक्त किया जाए कि वह भविष्य में हमें कभी भी बेगानी न लगे।

ऐसी हिन्दी खोजने के लिए आपको आज के संचार-माध्यमों में जाना पड़ेगा जहाँ पर हिन्दी के तरह-तरह के विकसित रूप प्रकट हो रहे हैं। ब्लॉग की दुनिया ने हिन्दी को एक नया आकार-प्रकार दिया जो किंचित टेलीविज़न-माध्यमों और प्रिंट-माध्यमों से आगे निकल रही है। अज़ीबोगरीब नामों से निकल रही कई पत्रिकाओं में व्यक्ति अपनी कुंठा से लेकर सदिच्छा तक लोगों तक निर्विरोध पहुँचा रहे हैं। ज़ाहिर है उसका पक्ष-विपक्ष अभी तय होना बाकी है।

लेकिन किसी भी भाषा के विकास के लिए उसके अपने विकास के तमाम रूपों को आगे आना ज़रूरी है। अर्थात् जब भी हम यह कहते हैं कि हमारी भाषा के विकास के नये रूपों को हम पहचानना चाहते हैं तो हमें किताबों की दुनिया से बाहर आकर एक ऐसी दुनिया भी अब आकर्षित कर रही है जो स्क्रीन पर है, जो ज़ुबान पर है और जिसका प्रयोग आमोख़ास बेखटके कर रहे हैं। इसलिए अगर हम यह देखना चाहते हैं कि हिन्दी का एकदम नया चेहरा क्या है तो हमें माध्यमों के इन नये रूपों से रूबरू होना एकदम ज़रूरी है।

मेरा सोचना है कि अगर भविष्य में हिन्दी पाठ्यक्रमों के विकास पर हम बात करें तो हम पाठ्यक्रमों में इस इंटरनेट के ब्लॉग, ट्वीटर और फ़ेस-बुक पर आये हिन्दी रूप को ही नहीं, एसएमएस की दुनिया में चल रही हिन्दी की एक आवाजाही को भी शामिल करें। ज़ाहिर है ये सारे रूप आज हिन्दी के रूप हैं। इसी प्रकार टेलीविज़न माध्यमों को देखें तो एक-एक चैनल पर आ रही हिन्दी आज उसके जीवन्त रूप को बनाये हुए है। वह हिन्दी जो किसी साहित्यिक कार्यक्रम में नहीं बोली गई, जिसका वाचन कोई साहित्यकार या हिन्दी का भाषाविद् नहीं कर रहा है या जिस रचनाकार को पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं माना गया, ऐसा सब कुछ हिन्दी के इस नये बाज़ार में, बाज़ारी शब्दावली में कहे हिन्दी की नई मंडी में मौज़ूद हैं। वह दूर लेह, लद्दाख, अरुणाचल, कन्याकुमारी, अण्डमान, निकोबार, जम्मू, पंजाब में बैठा हुआ हिन्दी का प्रयोगकर्ता है जिसका मातृभाषा के रूप में हिन्दी से कोई सरोकार नहीं रहा और यह भी हो सकता है कि एक स्तर तक वह हिन्दी पाठ्यक्रम का विद्यार्थी न रहा हो किन्तु हिन्दी फिल्मों, गीतों, समाचार चैनलों से परिचित होते ये चेहरे अब हिन्दी के नये उपभोगकर्ता चेहरे हैं, तो क्या हम भविष्य की हिन्दी में इनके द्वारा प्रयुक्त की जा रही हिन्दी की भारतीय छवि को शामिल नहीं करेंगे। आगे बात करें तो दूर मॉरीशस, फीजी, सूरीनाम, गयाना, बर्मा, नार्वे सहित अन्य देशों में गये भारतीयों की बात करें जो कभी भारतीय मज़दूर के रूप में वहाँ गये थे और आज भी हिन्दी प्रयोग किंचित बदलाव के साथ उनकी नई पीढ़ियाँ कर रही हैं या फिर वे टैक्नोक्रेट चिकित्सक और व्यवसायी जो विदेशों में रहकर हिन्दी के प्रयोगकर्ता बने हैं और जिनके बीच भारतीय भाषाओं की सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी अपना नया रूप ग्रहण कर रही है। मैं समझता हूँ

हिन्दी के इन प्रयोगकर्ताओं पर और नई हिन्दी के प्रयोगकर्ताओं पर भी अब हिन्दी का भविष्य निर्भर है। इसलिए अगर हम सोचते हैं कि हिन्दी में नये बदलावों को आत्मसात करने और लागू करने की आवश्यकता है तो हिन्दी के इस नये प्रयोगकर्ता वर्ग को जानना, समझना, पहचानना पड़ेगा और उनकी हिन्दी को अपनी हिन्दी कह कर हिन्दी प्रयोग के इस नये परिप्रेक्ष्य को समझना भी पड़ेगा।

मेरा प्रस्ताव है कि हिन्दी पाठ्यक्रमों में टेलीविज़न सीरियल, फिल्मों, वृत्त-चित्रों, फीचरों, विविध समाचार विश्लेषण से जुड़े कार्यक्रमों तथा समाचार चैनलों में प्रसारित बुलेटिनों की हिन्दी को भी जोड़ना चाहिये। अगर हिन्दी में यह सब जोड़ते हैं तो हिन्दी बड़ी होती है और हिन्दी प्रयोगकर्ता के रूप में जो भी व्यक्ति हिंदी अपनाने की कोशिश करता है वह हिंदी का सिपहसलार बन कर उसके प्रयोग को बढ़ावा देता है। दूसरी तरफ नये माध्यमों में आ रही हिंदी को भी उसी प्रकार अपनाने की आवश्यकता है। इंटरनेट समाचार पत्रिकाओं से लेकर इंटरनेट पर उपलब्ध हिन्दी की पत्रिकाओं और ब्लॉगों में हिंदी का एक व्यापक संसार तैयार हो गया है, इनमें वे पत्रिकाएँ भी हैं जिन्होंने हिन्दी के परम्परागत साहित्य को आधार बना कर अपना रूप निर्धारित किया है और वे भी अधुनातन शोध और ज्ञान की अधुनातन शाखाओं को अपने आधार सामग्री के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। ज़ाहिर है ये सब हिंदी के नये हितैषी हैं। कम्प्यूटर की दोस्ती के चलते करोड़ों पेज आज नेट पर उपलब्ध हैं तो क्या भविष्य में अगर हम हिंदी पाठ्यक्रमों को निर्धारित करते हैं तो उनसे हिंदी का लगाव बढ़ाने के लिए और उनके हिंदी के प्रति प्रेम को बनाये रखने के लिए उनसे हिंदी के नये पाठक वर्ग को जोड़ने का अपना कर्तव्य पूरा करना हमारी ज़िम्मेदारी नहीं है? अगर है तो हिन्दी के भविष्य के आधार पाठ्यक्रम चाहे वह स्कूल स्तर के हों अथवा स्नातक और उच्चतर स्तर के लिए, हिन्दी प्रयोग के इस नये क्षेत्र को भी हिन्दी पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाना होगा।

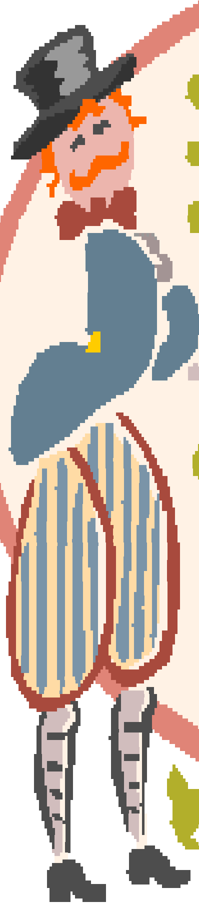

शाश्वत चिन्तन

राजेन्द्र नाथ मेहरोत्रा

शाश्वत चिन्तन की सदा शुभ धारा रही है हिन्दी,
पथगामी वैदिक संस्कृति की, सदा रही है हिन्दी।
भारत के धार्मिक स्वरूप की आत्मा रही है हिन्दी,
प्रज्ञ प्रांजल है, शाश्वत-चिन्तन कर रही है हिन्दी।।
बहुभाषी भारत की, मधुर अभिव्यक्ति रही है हिन्दी,
अनेकता में एकता का, प्रतिरूप सदा रही है हिन्दी।
भारत की क्षेत्रीय बोलियों में अग्रजा रही है हिन्दी,
वैयाकरणों के शुभ तप का,वरदान रही है हिन्दी।।
विश्व में सर्वत्र नेह, प्रसारित करती रहती है हिन्दी,
सौहार्द्र का प्रतीक है विश्व में, मंगलकारी है हिन्दी।
विश्व भाषा बन, शीर्ष-पथ अनुगामिनी रही है हिन्दी,
विश्व में सर्वश्रेष्ठ लिपि की प्रशस्ति-धारक है हिन्दी।।
हिन्दी-प्रेमी भारतवंशियों पर, गर्व कर रही है हिन्दी,
उनका योगदान महान है, विश्व भाषा बनी है हिन्दी।
सुदूर बसे प्रवासी, सबको आनन्दित कर रही है हिन्दी,
विश्व में हिन्दी की जय हो, विजयी मनस्वी है हिन्दी।।

देखना जानना और होना

चन्द्रकान्ता

मैंने मां को जितना देखा, उसमें देखना ही बहुत कम है, जानना तो और भी कम। लेकिन आज उम्र की गहमागहमी के दौर को पार कर, जब मैं पीछे मुड़ कर अपने किए-धरे के जमा हासिल को, तीसरे की नज़र से देखना चाहती हूं, कि अपने जिए-भोगे के बीच, मेरे होने की अर्थवत्ता क्या है, तो मेरे सामने अचानक मेरी मां खड़ी हो जाती है।

मां-बेटी के बीच जो जन्म देने-लेने का नाता होता है, उसके अलावा, हमारी कोई तुक-तान नहीं मिलती। समय, सोच और स्थितियों के भिन्न रास्तों पर चलती हम दो स्त्रियां, भिन्न पगडंडियों पर खड़ी हैं। मां का वजूद कुहरे में लिपटा है, फिर भी वहां से एक चुनौती का भाव मुझ तक पहुंच रहा है कि, "मुझे समझे बिना, तुम खुद को जान नहीं पाओगी।" वहीं से, मेरी मां को समझने की, मेरी कोशिश और पूरी प्रक्रिया शुरु होती है। धुंध लिपटी छोटी-बड़ी सच्चाइयों को टटोलती मैं अपने भीतर के गलियारों में भटकती, मां को जानने और उसके होने तक पहुंचना चाहती हूं।

मात्र आठ वर्षों की मेरी उम्र और मां अपनी यात्रा पूरी कर चली गई। यात्रा भी कितनी, मात्र तीस वर्ष की। मेरे जेहन में सुरक्षित कुछ छोटी-बड़ी रीलें हैं, कुछ स्थिर, खामोश और बोलते-बतियाते चित्र हैं, संदर्भों से कटे दृश्य, पर अर्थ छवियों से गझिन। कच्चे मस्तिष्क में पारे से फिसलते कुछ दृश्य-बिंबों को छोड़ दूं, तो मां से जुड़ी यादों में जो पहली तस्वीर जेहन में उभरती है, वह चौके में, जलते चूल्हे के पास बैठी, चावल के आटे से दुहरे फुल्के बनाती, एक खूबसूरत औरत की है, जिसके आंच से तपे चेहरे पर, पसीने की कुछ बूंदे चमक रही है और माथे पर झूल आई है, एक नन्ही सी घुंघराली लट, जिसे वह माथे से हटा, बालों में खोंस नहीं पाती, क्योंकि उसके हाथ आटे से सने हैं।

नामालूम ढंग से यादगार इस कैनवस पर न अमृता शेरगिल की "बैठी हुई स्त्री है, न जोगेन चौधरी की प्रकाश और अंधकार का रहस्य जाल बुनती, "हंस के साथ स्त्री" जैसी कोई कलाकृति। यहां खामोश सिनेमा की कोई जीवंत अभिनेत्री है। कोई बोल नहीं, बस। हथेलियों पर आटे की लोइयों की कुशल थपकन और तवे से उतरते शाहजीरे-नमक की सोंधी खुशबू वाले, भापीले, बारीक फूल्के।

यों हमारे सम्मिलित परिवार वाले घर में रसोइया ही खाना बनाता था। गृहणियां चावल-साग चुनतीं, सब्ज़ियां काटती-छीलतीं, स्वेटरें, दस्तानें बुनती होतीं। साथ में घर-परिवार, नाते-रिश्तेदारों की खुशी-ग़मीं को विचार-विमर्श के मुद्दे बनातीं। कभी-कभार महिलाएं कहवे के भापीले समावार लिए मेहमानों की खातिरदारी करती नज़र आतीं। किसी दिन घर की महिला, चौके में पटले पर विराजमान हुई तो इसलिए कि कोई ऐसा विरल पकवान बनाना है, जो रसोइए के पाकशास्त्र में शामिल नहीं है। मां का चौके में पकवान बनाने का अर्थ तो साफ़ था कि शहरी अभिजात्य में, जहां सुबह के नाश्ते के लिए, नानवाई से टोकरे भर लवासे, नान-खटाइयां, बाकरखानिया वगैरह आती थीं और कभी-कभार पराठे सिंकते थे। वहां घर वालों को, जीभ का स्वाद बदलने के लिए चावल के आटे की फुलकियां, याजि, मक्की के ढोढे या किसी ऐसे ही ठेठ गंवई पकवान खाने की ललक उठी है। ऐसे में मां की ढुंढवाई ज़रुरी थी क्योंकि मां गांव से आई थी, और कई पकवान बनाने में माहिर थी।

मेरी माँ का गाँव : कश्मीर में, बांडीपुरा कस्बे के एक छोटे से खूबसूरत गांव कुलूसा में, मां जन्मी-पली थी। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार, कुलूसा गांव 'कलश' शब्द से जुड़ा है। मधुमती नदी के किनारे, शारदा मंदिर के आस-पास बसा यह छोटा-सा गांव, शायद कभी मंदिर के चमचमाते कलश के कारण जाना जाता हो। लंबे समय के दौर ने कलश को कलस और कलस को कुलुस बना दिया होगा। मां शारदा, मात्र कुलूसा गांव के लिए ही नहीं, पूरे कश्मीर के लिए पूजनीय है क्योंकि उसका प्यान कश्मीर भूमि है। उन्हीं के कारण कश्मीर को "शारदापीठ" नाम मिला है। नमस्ते शारदा देवी, कश्मीर पुर वासिनी, श्लोक इस विश्वास का गवाह है।

इसी तीर्थ के इर्द-गिर्द बसे गांव में, करावल खानदान के लोगों के घर मां का जन्म हुआ। इनके पूर्वज किसी ज़माने में 'ठुलर झील' के एक हिस्से के मालिक रहे थे। मीठे पानी की इस झील में सिंघाड़े की खेती और 'महासीर' मछलियां उनकी रोज़ी-रोटी का साधन रही होंगी। बहरहाल, समय के साथ अधिकार छिन गए और उन लोगों ने धान की खेती शुरु कर दी, और करावल से 'भट्ट' कहलाए। मां का बचपन सोनरवोन्य की पहाड़ियों से छलक आती आवेग भरी मधुमती और नज़र के आखिरी छोर तक फैले पानी से टह-टह धान के खेतों को देखते, मेड़ें फलांगते बीता होगा। पहाड़ियों के दामन में, हरियाली पर मजे-मजे मुंह मारती भेड़-बकरियों को उसने कई बार हांका-दौड़ाया होगा। सखियों के संग जब जी हुआ अखरोट के पेड़ों से हरे अखरोट और अंगूर की छतों से लटके, खट्टे-मीठे अंगूर तोड़े-गिराए होंगे।

सुना है उस ज़माने में कुलूसा सौ-डेढ़ सौ घरों का छोटा-सा गांव था। पंद्रहेक घर हिंदुओं के जो शारदा मंदिर के आस-पास बसे थे, शेष सौ-सवा सौ घर मुसलमानों के। अखरोट, शहतूत, खुबानी और कीकर के पेड़ों के बीच दुबके, लिपे-पुते भुर्ज पत्तों और फूल के छप्परों वाले, इकमंज़िला, दुमंज़िला छोटे-छोटे ढलुवां छतों वाले घर। यहां छोटे किसान, हलवाहे, आरीकश, कुम्हार, लोहार, कांगड़ियां, टोकरियां बुनने वाले, धोबी, नाई और छोटे दुकानदार रहते थे। खोखेनुमा दुकानों पर सुई डोरे, तेल-मसाले से लेकर छींट-कपड़ा सब मिलता था। रोज़मर्रा की ज़रुरतों का सामान ख़रीदते, बदले में सेर भर चावल, दाल आदि दुकानदार को दिया जाता। इस बार्टर सिस्टम में कलदार रूपये अक्सर नदारद रहते।

मेरी स्मृतियों में जो बचपन का गांव है, वहां दीनेश्वर-सोनरवोन्य पहाड़ियों की सरसब्ज़ तराइयों पर उतरते-चढ़ते, ढोर-डंगर हांकते, घास के जूते 'पुलहोर' पहनते छोटे-बड़े गड़रिए हैं, जिनके फिरन के नीचे, घुटनो तक टांगें नंगी रहती थीं। वहां नांदों में भूसा-खली खाती गायें हैं, उनके थनों पर मुंह मारते बछड़े हैं, जिनके सुनहरे रोयें मुलायम धूप में चमकते हैं। दूध दुहने जाती मामी, उन्हें पुचकार कर एक तरफ़ हटाती, चालाकी से, गाय के थनों के नीचे बाल्टी, मटकी लगा, दूध दुहने लगती हैं। मामी कहती बछड़े को थनों से लगाए बिना, गाय दूध नहीं देती। बच्चा थनों से मुंह लगाता है, तो मां का अंतःकरण उमड़ आता है। यह अंतःकरण उमड़ आने की बात मेरी समझ में तब आई, जब मैं पहली बार मां बनी। जब पहली बार बिटिया ने अनभ्यस्त होंठों से मुझे खोजा। मामी अपनी गायों को सुंदरी, गौरी, बटनी कहकर बुलातीं। ज़िद करने पर डांटती, डांट खाकर गायें शरमिंदा होकर उनके हाथ चाटने लगतीं।

मां के तीन तल्ले वाले घर में खूब सारी खिड़कियां थीं। ऊपर हवादार कमरे 'कानी' की खिड़की पर बैठी हमारी नानी जब तरन्नुम से 'काव मालि कावो खेचरे कावो' पुकारती, तो ढेर सारे कौव्वे, चिड़िये, सुग्गे और पोशनूल पंख फड़फड़ाते, जाने कहां से आकर खिड़की के साथ लगी काकपट्टी पर इकट्ठा हो जाते। नानी अपने हाथ से नन्हें पांखियों को दाना-दुनका खिलातीं। हम शहरी बच्चे अवाक होकर देखते कि पशु-पक्षी भी उनकी बातें समझते हैं। वहां घरों के सामने धान रखने के लिए कुठार थे, जिनमें जहां परिवार के लिए साल भर का अनाज इकट्ठा होता था, वहीं गाय-बैलों के लिए घास के पूले छत तक लगे रहते। दरअसल गाय-बैल, भेड़ बकरियां सभी उनके परिवार का हिस्सा थीं।

ममेरे भाई बहनों को टटके छाछ और पुदीने की चटनी के साथ भात खाते देखकर मेरे मुंह में पानी आता। उस सोंधी, भूख बढ़ाने वाली महक के आगे रोगन-जोश, यखनी बेस्वाद लगते। लेकिन शहर से आए हम शहरी मेहमानों की खातिर शाही पकवानों से ही होती। पता नहीं वे ऐसा क्यों करते थे? शायद, वे हमें बताना चाहते कि तुम्हारी शहरी रिवायतों, खान-पान वगैरह से हम अच्छी तरह परिचित हैं। तुम हमें गंवार न समझना।

वे लोग सुबह-सुबह सत्तू डली गुलाबी शीर चाय पीते, हमें दूध या इलायची-बादाम डला कहवा पिलाते। छाछ-भात की जगह हमें मीट-मछली, पनीर वगैरह खिलाते। आज उन बातों को याद करते लगता है कि हमारी खातिरदारी में अतिरिक्त मुस्तैद रहते, उनकी जन्मजात सहजता, औपरचारिकता में बदल जाती थी और एक अदृश्य दीवार हमारे बीच तनी रहती।

लेकिन शहर-गांव के रहन-सहन, खान-पान और सोच के तौर-तरीकों में ख़ासे फ़र्क के बावजूद ऐसे मौके ज़रुर आते, जब आत्मीयता की डोर से बंधे हम उस फ़र्क से कोसों दूर चले जाते। यह फ़र्क तो बच्चों में सिरे से ही गायब रहता। शहरी-गवंई, खेल जैसा भेदभाव हमारी समझ से बाहर था, तभी हम 'तुले लांगुन' भी उसी शौक से खेलते और "राजा जी राजा, क्यों राजा..." भी। "हिकटा-मिकटा" वाला गाना तो हमने गांव में नूरा-ज़ेबा से ही सीखा था। हमारे पिता, जिन्हें हम ताता जी कहते थे, वे कभी-कभार ज़मीन जिरात देखने या अनाज वसूली के लिए गांव आते, तो पंडित संसारचंद भट्ट, हमारे बड़े मामा, के यहां ही ठहरते, जिनसे तब उनका एक ज़मीनदार और काश्तकार का ही रिश्ता था। बाद में उनसे रिश्ता बनने के बाद, जब हम ताता जी के साथ गांव जाते, तो ताता किसी बगीचे में चिनार के नीचे दरी-मसनद पर तकिए की टेक लगाए बैठे होते। सामने गांव के चंद लोग, जो उनसे किसी घरेलू झगड़े या समस्या का समाधान करवाते, उन्हें आदर और उम्मीद भरी नज़रों से देखते होते। झगड़े भी क्या रहते, एक भाई ने मकान का ज़्यादा हिस्सा हड़प लिया, दूसरे ने एक कनाल खेत कम दिया। किसी की लड़की ससुराल में दुःख पाती, किसी का पति, पत्नी की पिटाई करता। ऐसे मामले पंचायत में न जाकर, किसी दानिशमंद व्यक्ति से सुलझाए जाते और ताता जी जैसा दानिशमंद विद्वान उनके गांव में तो क्या, पूरे शहर में इक्का-दुक्का ही था। ऐसे में खुशबूदार तंबाकू के सुट्टे लगाते ताता, फरियादी की बातें सुनते और अपने मशवरे देते। इस बीच थाली में नमक-काली मिर्च डले शहतूत, हरे अखरोट और भुने हुए कच्चे भुट्टे मजलिस में एक से दूसरे बंदे तक पहुंचते। हम बच्चों की तो चांदी थी। कहीं से, किसी भी पकवान, फल-फूल के पहले हकदार हम ही होते। घर लौटते वक्त नानी खूब सारे अखरोट, भुट्टे, चावल-मक्की का आटा, खुबानियां और पता नहीं क्या-क्या पोटलियों-थैलों में बांध-बूंध कर हमारे साथ भेज देतीं। उन कच्ची गिरियों और मुलायम मीठे भुट्टों का स्वाद याद आने पर आज भी मुंह में घुला महसूस होता है। पता नहीं वह बचपन का नैसर्गिक आस्वाद, जो अपनी पसंद की चीज़ों के होने से जुड़ा था, वह बाद में उन चीज़ों को ऊंचे भाव, गुणवत्ता, नफ़ा-नुकसान आदि से जोड़ कर देखने-सुनने में कहां बिला गया?

एक बार हम मामा के घर शादी में गए। शादी में वनवुन, छकरी, गाने बजाने तो हुए ही, चांदा-तुलसी के साथ नूरा-फाता ने कंधे से कंधा मिला कर रोव भी किया – "संदूक तं कुंजु कर माजि हवालय नेरी, कूर्य वअरिवेन हवालय। गाते-गाते महिलाओं की आंखों से आंसू झरने लगे। आखिर बेटी की विदाई में किन आंखों में गीलापन नहीं तैरता? मेंहदी रात को अहदू महदू ने खूब भांड पत्थर किए। महदू आंखों में सुरमा डाल, होंठों पर दंदासा मल, कुरती के अंदर कपड़े की छातियां लगाकर लड़की बना। खूब घेरदार घाघरा पहन उसने क्या नाच दिखाया, हम लोग हंस-हंसकर लोट-पोट हो गए, खासकर तब, जब नाचते समय उसकी कुरती से कपड़े के दो गोले खिसक कर नीचे गिर पड़े। एक लड़के ने शेर की खाल पहनी। तमाशा देखती भीड़ के बीच घुसकर, कुछ ऐस दहाड़ा कि कई बच्चे मां की गोद में दुबक गए। कइयों ने चीखें मारी और कुछेक का तो डर से पाजामा भी गीला हो गया। सचमुच का शेर जो लगता था वह।

गांव में ज़्यादातर गरीब, परिश्रमी लोग और कुछेक मध्यम श्रेणी के ज़मींदार रहते थे। ज़ैलदार यूसुफ़ जान जो आसपास के दसेक गांवों का मुखिया था, निहायत नेक आदमी था। गांव में सिर्फ़ उसी का घर रंगीन ईंटों से बना था। यों तो गांव का भाईचारा भी ग़ज़ब का था। एक दूसरे से दुआ-सलाम, हारी-बीमारी में मदद को हाज़िर, 'वारय छिवी? खैर य छा? और जू दोर कोठ।'

बड़े झगड़े, ज़मीन की गलत पैमाइश, कर्ज़ वसूली में सरकार की ज़्यादती, मौसम की मार से अनाज न होने पर किसानों की कर न दे पाने की मजबूरी आदि मामले यूसुफ़ जान ही निपटाते। आगे जब 1947 में कश्मीर पर हुए कबाइली हमले में मामी के घर, आजर में उनके परिवार के बीस जनों को भून दिया गया, उस वक्त कुलूसा में मां के परिवार को यूसुफ़ जान ने ही बचाया था। वह एक अलग दहशतनाक दास्तान है, जो हमें मामी ने सुनाई थी।

मां के घर के पास ही, मधुमती की एक छोटी धारा, बट्टों के ऊपर छलछल बहा करती थी। इतनी सी गहरी कि उसमें उतरकर छाती तक भीगते हुए हम बच्चे एक छोर से दूसरे छोर तक आवाजाही कर सकते। साफ़ इतनी कि तल में बैठे वट्टों में, गिट्टों के लिए गोल बट्टे ढूंढ़ने में हमें कोई दिक्कत न होती। लेकिन छोटे–छोटे पत्थर बड़े चिकने थे। फिसलने का डर लगा रहता। एक बार इस नन्हीं नदी में हमें जनेऊ धारी अंडाकार चिकना काला वट्टा मिला, जिसे घर वालों ने शिवलिंग मानकर ठाकुर द्वारे में रख दिया।

इसी छोटी सी नदी पर फट्टों से बनी एक नन्हीं सी पुलिया थी, जिसे देख मुझे नानी की सुनाई "काव गव लेलिस" कहानी याद आती थी। कहानी का कौवा जब देग में गिर पड़ता है, तो उसके दोस्त गहरा शोक मनाते हैं। गौ माता दुख से अपनी पूंछ गिरा देती हैं और नन्हीं पुलिया अपना एक फट्टा नदी में बहा देती है। मुझे जाने क्यों यकीन–सा था कि ज़रुर इसी पुलिया ने कौवे के शोक में एक फट्टा गिरा दिया होगा। वहीं पास खड़े बूढ़े शहतूत के खोखले में उलझी जड़ों के गुजलक बीच, जहां हम छिपम–छिपाई खेलते छुप जाना चाहते थे, हमें जाने की मनाही थी। नानी ने कहा, "वहां सांप अपने बच्चों के साथ रहता है" जिसकी कहानी भी उसने हमें सुना दी। नानी का गांव कहानियों का गांव था। वहां कहानियां जन्म लेती थीं।

पुलिया के पार शारद बल था। गुलाब, गेंदों के बगीचे से घिरा शारदा देवी का मंदिर। मामा–मामी और सभी घर वाले, नहा धोकर शारदबल ज़रुर जाते। वहां एक छोटा–सा शिवालय भी था, जहां कमल पत्तियों से बने ओंकार धारण किए, शिवलिंग विराजते थे, जिनके सिर के ठीक ऊपर छत से लटके मटके से बूंद-बूंद जल गिरता रहता और वे सदा भीगे–नहाए लगते।

मां उस नन्हीं नदी में सखियों के संग जाने कितनी बार छप–छप नहाई होगी। किनारे झुके वेद, कीकर और शहतूत के पेड़ों पर कुरते–फिरन टांगे होंगे। उसके रोज़ के ज़रुरी कामों में शारदबल जाना भी रहा होगा, जहां उसने भी गुलाब की पत्तियों से ओंकार रचा होगा, मंत्र पढ़े होंगे, मनौतियां मांगी होंगी। तभी तो जब पंडिता साहब के साथ उसकी शादी हो गई तो गांव वालों, नाते–रिश्तेदारों ने कहा कि शिवनाथ और शारदा मां ने गुणी की सुन ली।

चिल्लायकलान की कंपकंपाती रातों में, जब मैं और दीदी लिहाफ़ में घुस, मां की नरम मांसल देह से चिपक, ठंड भगाने की कोशिश करती, तो मां नींद आने से पहले हमें पंच कन्याओं के नाम गिनाती और शारदा मंत्र रटातीं। हम गुनगुनी गरमास में लिपटी ऊंघती, कुछ शब्द सुनती जो नींद में दूर कहीं स्वप्न लोक से आते महसूस होते, – "शारदा वरदा देवी मोक्षदात्री सरस्वती/अहिल्या, द्रौपदी, तारा, कुंती... मंदोदरी... ।"

माँ ललधद के गीत गाती थीं ।

माँ स्कूल में पढ़ी नहीं थीं। उन दिनों गांव में लड़कियों के स्कूल थे भी नहीं। घर में ही थोड़ी बहुत पढ़ाई हुई हो तो हो, लेकिन उसने कभी हस्ताक्षर की जगह अंगूठे की टीप नहीं दी, बल्कि सुंदरता से काग़ज़ पर अपना नाम "संपत्ति" लिखा। ज़रुर शिक्षाविद् हमारे ताता जी ने उसे अक्षर ज्ञान कराया होगा। लेकिन मां के पास किस्सों, कहानियों और लोकगीतों के भंडार थे, जो उसने अपनी मां, दादी–नानी से सुने होंगे। हमारी सफ़ेद झक बालों वाली झुर्रीदार नानी के छोटे से मस्तिष्क में गुणाढ्य पंडित की वृहद कथाएं अटी पड़ी थीं जिनमें परियां, जादूगरनियां ही नहीं थीं, सोनकिसरी, अकनंद्वन, सोने का पानी, गाने वाली चिड़िया, बोलने वाला दरख़्त और पता नहीं क्या–क्या था। वहां सौतों–जलनखोरियों की सताई, भिखारन बनी रानी की दुःख गाथाएं थीं, जो ऊपर वाले के न्याय और अपने सद्‌गुणों के कारण फिर से एक दिन राजरानी बनती है, दुष्टों की दुर्गति होती है यानी कि अच्छे कामों का नतीजा अच्छा ही होता है वाला संदेश हर कहानी का सार हुआ करता। गांव में लालटेन की मद्धम रोशनी में, अपने दाएं बाएं बच्चों की टोली को लिहाफ़ में लपेटे-समेटे कहानी सुनाती हुई नानी की याद आते मुझे एडवर्ड फिटजेराल्ड के कहे पर विश्वास होने लगता है, कि कोई औरत ही रही होगी, जिसने जाड़ों की लंबी रात

में अपने बच्चों को चरखी से फुसलाते हुए उनके कान में गुनगुनाते हुए कथाओं और लोकगीतों को जन्म दिया होगा।

एक बात ज़रुर थी कि कहानियां हम बच्चों तक सेंसर होकर आती थी। हीमाल नागराय की प्रेम कथा में समुद्रतल में नागराय की पत्नियां हीमाल को सताती होतीं, नागराय हीमाल को जादू से कंकर बनाकर जेब में छिपाए रखता, और रानियों के सो जाने पर फिर से हीमाल बनाता, लेकिन क्यों? यह पूछना मना था। प्रेम जैसे निषिद्ध कक्ष से बच्चों को दूर रखा जाता।

मां की कहानियों से ज़्यादा मां के गीत मुझे याद हैं। ललधद के "वाख" और ललधद से जुड़े गीत वह करूण स्वर से गुनगुनाया करतीं। संत कवयित्री ललधद, साध्वी महिला। लेकिन क्या ससुराल वालों ने उसे समझा? सास तो उसकी थाली में सिलबट्टा रखकर, ऊपर से मुट्ठी भर भात परोस, उसे भूखा ही रखती और वो जो बारीक सूत उसने काता, उसको मोटा–झोटा कह कर ताल के पानी में फेंक दिया। कमल नाल तोड़ कर देखो, कितने बारीक तार हैं उसमें। वैसा ही बारीक सूत काता था लल्ली ने। लेकिन सास तो सास, फेंक दिया खिड़की से बाहर ताल में। पर क्या लल्ली ने मुंह खोला? पलट कर जवाब दिया? तभी न ताल में से कमल के फूल और कमल ककड़ियां उग आई। मां उच्छवास की तरह, "यिथ पअठ्य टोठचोख पोंपुरूच लल्ले..." गाया करती, उस अदृश्य से प्रार्थना करते हुए कि लल्ली पर तुम कृपाल हुए, हम पर भी अपनी कृपा बनाए रखना।

ससुराल में बहुओं की कष्ट गाथाएं सिर्फ़ लल्ली के ही साथ नहीं थीं, अलखेश्वरी रुप भवानी, हब्बा खातून, अरनिमाल। इन लोकगीतों, गाथाओं की नायिकाएं भी घरेलू महाभारतों के बीच जूझती खुद को बचाए रख पाई थीं। उनके आंसू, उनके द्वंद्व और संघर्ष गीतों में ढल कर औरत की कहानियां बन गईं थीं।

लेकिन मां के साथ, अपनी सास जी के अनुभव न घर में, न घर से बाहर किसी ने सुने। दूसरों की कष्टगाथाओं के बहाने स्त्रियां अपने दिल के गुबार तो निकाला ही करतीं, लगे हाथ बेटियों को आगत के लिए तैयार भी कर लेतीं कि जो हुआ, हो रहा है, वह आगे भी होगा ही होगा। भले बदली शक्लों के साथ आज उत्तर आधुनिकता के दौर में, तमाम बदलावों, अधिकारों और स्वच्छंदताओं के बावजूद, स्त्री विमर्श के सशक्त तेवरों वालियां भी जानती हैं कि घर परिवार में आज भी पुरूष वर्चस्व और स्त्री की कंडीशनिंग से पैदा हुई कष्टगाथाएं जारी हैं।

मां ने अपने कष्ट किसी से नहीं कहे। कहती, तो शायद उसके भीतर वह लावा न सुलगता रहता, जिसकी परिणति उसके जीवन के विस्फोटक अंत में हो गई।

यों उस दौर में अपनी बात कहने का चलन स्त्रियों ने अपनाया ही नहीं था। हमारे घरों के आभिजात्य में कुलीन स्त्रियां अक्सर बेजुबान ही हुआ करती थीं। कुछ घरेलू सुविधाओं, गहनों–कपड़ों और गृहणी की पारंपारिक, अर्थ खो चुकी विरूदावलियों के बीच औरत की इच्छाओं का संसार अपने पंख समेटे बैठा रहता। कितना सुखी, कितना संतुष्ट, यह मापने का कोई यंत्र हमारे पास नहीं है।

मां कभी–कभी प्रकाश रामायण की पंक्तियां गुनगुनाती – "गयामध राम दंडक वन... ।" उसकी आवाज़ में घने जंगलों में अकेली भटकती सीता का दुःख छलक पड़ता। वह मुंह मोड़ कर, छिप कर अपने आंसू पोंछ लेती। आंसुओं के साथ शायद वह उस अनाम गुस्से को कहने नहीं देना चाहती, जो बेकसूर स्त्री को कटघरे में खड़ा करने की वजह से, राम और उसकी सत्ता के प्रति उसके भीतर से सिर उठाता था। मां ऐसे गाने क्यों गाती थी कि गाते–गाते गला रूंध जाए? जबकि हमारी चाची जी, मां की देवरानी, शांत भाव से भवानी सहस्रनाम और भगवद्गीता के श्लोक पढ़ती होतीं? मां के भीतर कौन–सा उदास अकेलापन कुंडली मारे बैठा था? जबकि बाहर से सब कुछ भरा–भरा और सुखसान था?

मन की तहों में घुसकर सच तलाशना अक्सर संभव नहीं होता। अपने मन के अंधेरे गलियारों से होते हुए, हम भले किसी सच तक पहुंच जाएं पर दूसरों के अंधेरे तहखानों को भेदने की एक्सरे आंख

प्रायः हमारे पास नहीं होती, खासकर तब जब हमारे पास गहराई में खोजने-टटोलने की न उम्र हो और न शऊर।

लेकिन आज मुझे मां को जानकर खुद को जानने जैसा ही स्वाभाविक लगता है। उम्र जो सही ग़लत का जायज़ा लेने की विवेक-दृष्टि देती है, वही बिना आंख धुंधलाए, उस छितरे-बिखरे रंगों की तस्वीर को समझने की नज़र भी देती है। चाहे अनचाहे, मां ने मुझमें अपने वजूद का कोई अंश रोप दिया है। जीन्स के बहाने कुछ उद्वेग, राग-द्वेष, अकूत जिज्ञासाएं या न भरने वाला अकेलापन। मेरा अपना अर्जित कितना और अंशदान में मिला कितना है, इसे जानने की आकुलता, एक जीवन जी चुकी स्त्री के दबे ढके कोनों-अंतरों को उघाड़ना नहीं है, बल्कि अपनी ही बंद खिड़कियां अलग-अलग पटरियों पर चलते, होने के बावजूद क्या कुछ ऐसा नहीं है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हम एक दूसरे को थमाते हुए आए हैं? शरीर के रोग-शोक, नाक-नक्श से लेकर जीने होने के फ़लसफ़े तक, कितना कुछ चाहे अनचाहे हमारी मज्जा में घुला रहता है। मेरी वैज्ञानिक सोच की बेटी जीन्स की महिमा जानकर भी चकित है कि मां की जैसी कुछ बातें, नाक-नक्श, भाव संवेग ज्यों का त्यों उसमें कैसे जगह पा गई हैं, जबकि समय के बदलते संदर्भों में आज की सोच कल बासी पड़ जाती है। ऐसा क्या है जो बदलाव की सारी अवधारणाओं को निरस्त कर हमारे भीतर अपने मूल स्वरुप को बचाए रखता है। हमारी चाहें, हमारी आकांक्षाएं? जिनके बारे में हम खुद भी नहीं जानते। क्या जिग्मंट बाऊमैन, लाइफइन फ्रेग्मेंट में सही नहीं कह रहा है कि, " सब तरह की प्रगति के अंत में हम वहां खड़े हैं जहां आदम और ईव खड़े थे?"

हदों को फलांगने के दावों के बाद भी अपनी बनाई नयी हदबंदियां। कटघरों का विरोध करने के बावजूद अपने-अपने कटघरे। प्यार, समर्पण, अधिकार-अस्मिता की अलग-अलग परिभाषाएं, कहीं धमकाते गर्जते तेवर, कहीं खामोशी ज़िदें और उनके पीछे जीने और होने की सनातन छटपटाहटें। मां भी तो इन गर्जते तेवरों और खामोश ज़िदों के दो ध्रुवों के बीच अपनी मनचाही ज़िंदगी जीने की कोशिश करती रही थीं।

ओस की बूँदें

आभा कुलश्रेष्ठ

देख कर ओस की बूँदें
पंखुड़ियों के आँचल पर
लगा यों जैसे रोई हैं
बिखर जाने के डर से।

गले मिल कर फूलों के
रोई है रुपहली चाँदनी
सुनहरी धूप के आते ही
बिछड़ जाने के डर से।

रात रंग भरने आई थी
पहन मोतियों की माला
टूट कर बिखरे मोती हैं
किसी सुरबाला के उर के।

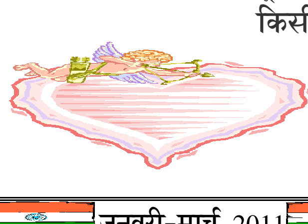

औरत की आवाज़

डा. सरला अग्रवाल

जब-जब अपने खोल से निकल कर
ताजी हवा पाने की कोशिश की है मैंने
कुचल दिया है सिर ज़ालिमों ने मेरा
जब-जब गीत गाने को मुँह खोला है अपना
मुँह सिल दिया है सितमग़रों ने मेरा
जब-जब आज़ादी का झण्डा फहराने का प्रयास किया....
हाथ तोड़ दिये हैं दुनिया वालों ने मेरे।
मैं यूँ ही सिमटी रहूँ अपने खोल में
गिड़गिड़ाती रहूँ, रोती रहूँ
चाहा है यही इन दुशासनों ने
अहिल्या हो या द्रौपदी
हो गार्गी या हो कुन्ती
सीता-सी साध्वी हो या
हो सौन्दर्य प्रतीक पद्‌मिनी
रानी लक्ष्मी हो या इन्द्रा गाँधी
सभी पर शर-संधान किया
जीवन में अंधकार दिया
जब-जब खोल से निकली हूँ
जीवन लहु-लुहान किया मेरा
मैंने फिर भी हिम्मत न हारी
स्वीकार चुनौतियों को सारी
पग बढ़ाये जीवन के हर क्षेत्र में
चढ़ सफलता के सोपान पहुँची अंतरिक्ष में
पोंछ अश्रु पीड़ा बिसराई
श्रम को साध सफलता पाई
सोचा मैंने हर पल
जो जीता वही सिकन्दर !

बिना शीर्षक

डॉ. कुसुम अंसल

मैं सूरथखल में रीजनल इंजीनियरिंग कालेज के गेस्ट हाउस में ठहरा हुआ था। एक सेमिनार के सिलसिले में यहाँ आया था। अब यहाँ से गोवा जाना था मुझे। यदि मैं कॉलेज के अधिकारियों से कहता तो वे मेरा सारा प्रबंध कर देते। शायद यहाँ से गोवा तक का किराया भी दे देते। लेकिन यह मुझे उचित नहीं लगा। इसीलिए मैं स्वयं मंगलौर जाकर बस से अपना रिजर्वेशन करा आया था। रात नौ बजकर पचास मिनट पर बस वहाँ से पणजी के लिए रवाना होती थी।

इस समय आठ बजने वाले थे। मुझे किसी भी सूरत में साढ़े नौ या अधिक से अधिक नौ चालीस तक मंगलौर पहुँच जाना था। वैसे पूर्ण जानकारी न होने के कारण मुझे यह कष्ट उठाना पड़ रहा था क्योंकि मंगलौर से पणजी जाने वाली बस इसी रास्ते से गुजरती थी और यदि मैं पहले से बस वाले को नोट करा देता कि मैं बस में सूरथखल में बोर्ड करूँगा तो वह बस यहाँ रोक कर मुझे ले लेता।

लेकिन अब क्या हो सकता था। अब तो मुझे यहाँ से बस पकड़ कर मंगलोर ही जाना था। अपनी मूर्खतापूर्ण आदर्शवादिता के कारण मैंने कॉलेज के अधिकारियों को कार के लिए भी मना कर दिया था।

मेरे पास सामान अधिक नहीं था। मात्र एक अटैची। उसे लेकर मैं सड़क के उस पार आ गया जहाँ से मुझे मंगलौर के लिए बस मिलनी थीं। यहाँ एक वृक्ष के नीचे एक चबूतरा-सा बना था। संभवतः बस यात्रियों की सुविधा के लिए ही यह बनाया गया था। एक आदमी वहाँ पहले से बैठा था। मैं भी उसी की बगल में बैठ गया। उसने मुझे, गौर से देखा। तब पूछा, "कहाँ जाएँगे आप?"

"मंगलौर" मैंने कहा, "वहाँ से मुझे पणजी जाना है। अभी रात नौ पचास वाली बस से"

"रिजर्वेशन है आपका?"

"सो तो सुबह ही करा लिया था।" मैंने कहा।

"तब तो आपने भूल की। पणजी वाली बस तो इधर से ही जाती है। आप उनको बता देते तो वह आपको यहाँ से ले लेते।"

"हाँ। यह भूल तो हो ही गई। असलियत में तब मुझे इस बात की जानकारी नहीं थी।"

"खैर अभी समय है आप आराम से पहुँच जाएँगे। बीस-बाईस किलोमीटर की ही तो बात है। बस समय और पैसे का कुछ नुकसान होगा।"

"सही जानकारी की कमी का इतना मुआवजा तो देना ही चाहिए मुझे।" मैंने कहा।

तभी दाहिनी ओर सड़क पर किसी चौपहिए वाहन का तेज प्रकाश देखकर मैं कुछ सतर्क हो गया कि शायद मंगलौर जाने वाली कोई बस ही हो। "बस वाला ऐसे ही रोक देगा या मुझे हाथ दिखाना होगा।" मैंने उस व्यक्ति से पूछा।

उसने गाड़ी के प्रकाश की ओर देखा। तब बोला, "यह तो कार है। आप बैठे रहिए। बस आपको अभी थोड़ी देर में मिलेगी। साढ़े आठ पर पहली बस आएगी लेकिन मेरी मानिए तो उसे आप मत लीजिए। वह स्लो बस है रुकते-रुकाते जाएगी। कोई ठीक नहीं आपको समय से पहुँचाए भी या नहीं। उसके बाद दूसरी बस नौ बजकर दस मिनट पर मिलेगी। वह एक्सप्रेस बस है। वह आपको ठीक नौ चालीस पर मंगलौर पहुंचा देगी। यहाँ से छूटी तो सीधे मंगलौर ही रुकेगी।"

तब तक जिस गाड़ी का प्रकाश मैंने देखा था वह हमारे सामने से निकल गई। वास्तव में वह कार ही थी। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस आदमी ने इतनी दूर से कैसे जान लिया कि वह कार ही है।

"आप क्या उत्तर भारत के रहने वाले हैं?" मैंने उससे पूछा।

"क्यों?"

"हिंदी आप बहुत अच्छी बोलते हैं।"

वह हँसा। "हिंदी ही नहीं, मैं कन्नड़ और कोंकणी भी बहुत अच्छी बोल लेता हूँ। इसके अलावा मराठी, मलयालम, पंजाबी, असमिया और बंगला भी टूटी-फूटी बोल लेता हूँ। लेकिन मैं कहाँ का हूँ, मेरे माता-पिता कौन थे, क्या भाषा बोलते थे, उनका धर्म क्या था, यह मैं आज तक नहीं जानता।"

"ऐसा कैसे?" मुझे आश्चर्य हुआ।

"बहुत पुरानी बात है।" उसने इस प्रकार कहना शुरु किया जैसे वह कहीं बहुत पीछे किसी अँधेरे अतीत में डुबकी लगा रहा हो। "आज से कोई पचास-बावन वर्ष पहले इसी मंगलौर पणजी मार्ग पर एक बहुत भयानक बस दुर्घटना हुई थी। आप शायद तब पैदा भी नहीं हुए होंगे।" उसने मेरी ओर गौर से देखा तब बोला, "पहले कभी इस रूट पर यात्रा की है आपने?

"नहीं।" मैंने कहा।

"तब आपको यह यात्रा दिन में करनी चाहिए थी। इस देश की बहुत ही खूबसूरत यात्राओं में से एक है यह। पूरा मार्ग वेस्टर्न घाट्स के बीच से गुजरता है। दोनों ओर पहाड़, घाटियाँ, झरने जंगल, फल और फूलों से लदे हुए वृक्ष। अगर हल्की बारिश हो रही हो तब तो यात्रा का आनंद और भी बढ़ जाता है।"

"आप किसी दुर्घटना की बात कर रहे थे?"

"हाँ। आज से पचास-बावन वर्ष पहले की बात है। इस मार्ग के लगभग बीचोबीच एक स्थान पर सड़क लगभग यू टर्न लेती है। उसी स्थान पर यह दुर्घटना घटी थी।"

सड़क पर किसी वाहन का प्रकाश देखकर मैं फिर उस ओर देखने लगा।

"ट्रक है।" उसने कहा।

मुझे लगा जैसे मैं चोरी करते पकड़ा गया हूँ। "क्षमा कीजिएगा।" मैंने कहा, "आप दुर्घटना की बात कर रहे थे।"

"वही बात कर रहा हूँ। सवारियों से पूरी तरह लदी हुई बस तेज रफ्तार से भागी चली जा रही थी। तभी क्या हुआ यह तो आज तक कोई बता नहीं पाया, बहरहाल, उसी यू टर्न के पास बस अचानक एक गहरे खड्डे में जा गिरी। कोई दो हजार फुट गहरा खड्डा रहा होगा। नीचे घाटी तक पहुँचने से पहले ही बस में आग लग गई और आग की भयंकर लपटों से घिरे एक विशाल गोले की तरह बस लुढ़कती हुई नीचे घाटी में जा गिरी। सारे यात्री बस में ही जल कर मर गए। एक प्राणी भी नहीं बचा। बचा तो बस एक डेढ़ साल का बच्चा जिसे एक खरोंच तक नहीं आई।"

मुझे उसकी बात पर आश्चर्य हुआ। तभी वह गाड़ी हमारे सामने से गुजरी और मैंने देखा वास्तव में ही ट्रक था।

"अरे यह तो बड़े आश्चर्य की बात है कि बच्चे को जरा सी खराश भी नहीं आई।" मैने कहा।

"हाँ।" उसने कहा, "असलियत में इधर फालसाही रंग का एक तरह के फूल का वृक्ष होता है बिल्कुल गुलमोहर जैसा। लेकिन ऊंचाई में उससे काफी छोटा। सितंबर के महीने में, जिन दिनों की बात है वह अपने पूरे शबाब पर होता है। पूरा पेड़ फूलों का एक स्तूप सा लगने लगता है। इस मार्ग पर यह पेड़ बहुतायत से पाया जाता है। संभवतः वह बच्चा बस में खिड़की के पास अपनी माँ या पिता की गोद में बैठा उन फूलों की ओर लपकता रहा होगा और जैसे ही बस खड्डे में गिरने को हुई बिल्कुल उसी क्षण वह बच्चा फूलों की ओर लपका और फूलों की एक डाल उसकी पकड़ में आ गई और इधर बस खड्डे की ओर लुढ़की और उधर वह बच्चा फूलों की डाल पकड़े खिड़की से बाहर हो गया। जब बस के गिरने की आवाज सुनकर पास के गाँव में रहने वाले लोग दौड़ कर आए तो उन्होंने फूलों के उस वृक्ष की एक डाल से उस बच्चे को लटकता हुआ पाया।

बच्चा जोर-जोर से रो रहा था। एक गाँव वाले ने पेड़ से लटकते हुए उस बच्चे को गोद में लेकर उतारा। दूसरे लोग नीचे खड्डे में उतर गए। किसी तरह जलती हुई बस को उन्होंने बुझाया। लेकिन तब

तक देर हो चुकी थी। सब कुछ जलकर राख हो चुका था। लाशें भी इस सीमा तक जल चुकी थीं कि किसी को भी पहचानना असंभव था। पुलिस आई। उसने सारी चीजों का मुआयना किया।"

"बच्चे के वस्त्रों आदि को देखकर लगता था कि वह किसी अच्छे घर का है। लेकिन सिवाय "अम्मा" "बाबा" के वह कुछ बोल नहीं सकता था। ऐसी स्थिति में यह पता लगा पाना कि वह कौन था, बड़ा मुश्किल था। बस में जो भी सामान आदि जलने से रह गया था उसे पुलिस वालों ने गौर से देखा कि शायद किसी बक्से में बच्चे की साइज के कुछ वस्त्र आदि मिलें, साथ ही कुछ ऐसा जिससे उसके बारे में कुछ जाना जा सके... यह भी ट्रक है।" उसने सड़क पर आते एक और वाहन की रोशनी को देखते हुए कहा।

"उस बच्चे का क्या हुआ?"

"दूसरे दिन अखबारों में बस दुर्घटना की खबर के साथ बच्चे का बड़ा सा फोटो भी छपा। लेकिन कुछ फायदा नहीं हुआ। कई दिन निकल गए। लेकिन कोई उसे क्लेम करने नहीं आया। हाँ उसे गोद लेने के लिए कई लोग आगे आए मगर इसमें एक कानूनी अड़चन थी। बच्चा या तो माँ–बाप की अनुमति से गोद लिया जा सकता है या फिर वह पूरी तरह लावारिस हो। यहाँ समस्या यह थी कि कानूनी तौर से बच्चा लावारिस भी नहीं कहा जा सकता था क्योंकि हो सकता था कि कुछ दिनों बाद उसके हकदार आ ही जाएँ और कौन जाने बच्चे के माँ–बाप दोनों नहीं तो उनमें से एक अभी जीवित ही हो। अतः मैजिस्ट्रेट ने यह आदेश दिया कि बच्चे का फोटो सुरक्षित रख लिया जाए तथा एक छोटा फोटो तावीज के रुप में बच्चे के गले में पहना दिया जाए और पालन–पोषण के लिए किसी अच्छे अनाथ आश्रम भेज दिया जाए। अतः कुछ दिन पुलिस कस्टडी में रहने के बाद बच्चे को एक अनाथ आश्रम भेज दिया गया।"

इस बीच वह वाहन हमारे सामने से निकला तो मैंने देखा वह वास्तव में ट्रक था। मैं उस व्यक्ति के बारे में सोचने लगा कि आखिर यह है कौन जो दूर से वाहनों के प्रकाश को देखकर ही उनके स्वरूप को पहचान लेता है।

"आपको बताऊँ वह बच्चा कौन था?"

मैंने उसकी ओर गौर से देखा।

"वह बच्चा आपके सामने बैठा है।" और यह कहकर उसने अपने गले में पड़ा हुआ ताबीज मेरे सामने कर दिया।

"आप।"

"जी हाँ मैं।"

"तो आपको बाद में कुछ पता चला।"

"नहीं।" उसने कहा। "मैं कोई चार–पाँच साल उस अनाथालय में रहा तब वहाँ से भाग आया। असलियत में उसे अनाथालय कहना ही गलत था। वास्तव में वह बच्चों द्वारा भीख मँगवाए जाने का एक अड्डा था। सुबह सब बच्चे अलग–अलग टोलियाँ बनाकर बैंड बाजे के साथ निकलते और शाम को भीख में पाए हुए पैसे लाकर मैनेजर के पास जमा कर देते। यदि कोई बच्चा कम पैसे लाता तो उसे सजा दी जाती। खाना भी ठीक से नहीं मिलता था। यही सब देखकर मैं वहाँ से एक दिन चोरी से भाग निकला... अब आपकी बस आ रही है, लेकिन यह पैसेंजर बस है मेरी राय में आप इसे मत पकड़िए।"

"ठीक है।" मैंने कहा। "अनाथालय से निकलने के बाद आप कहाँ गए?"

"तब तक मुझे बस एक्सीडेंट के बारे में सारी बातें पता चल चुकी थीं और जाने क्यों मैं लौटकर उसी स्थान पहुँच गया जहाँ एक्सीडेंट हुआ था और वहाँ से कुछ दूर सड़क किनारे बने एक होटल में काम करने लगा। मेरे गले में मेरा उस समय का फोटो अभी भी ताबीज में मढ़ा लटका था। उसे देखकर कुछ लोगों ने मुझे पहचान लिया कि मैं वही बच्चा हूँ जो बस दुर्घटना में बच गया था। सभी मुझे बहुत ही उत्सुकता से देखते। बस के ड्राइवरों–कंडक्टरों को तो मुझमें विशेष रुचि थी। वह मुझे बहुत ही

भाग्यशाली समझते और कभी-कभी मुझे अपने साथ अपनी बस में बिठा लेते। कुछ दूर जाकर किसी स्टॉप पर मैं उधर से आने वाली बस पर बैठकर वापस आ जाता।"

बस आकर वहाँ रुक गई। वह खचाखच भरी हुई थी। दो-एक मुसाफिर उससे उतरे। "आप जाना चाहें तो इससे जा सकते हैं। हो सकता है समय से यह पहुँचा भी दे। लेकिन मेरे ख्याल से आप रिस्क न लें। एक्सप्रेस बस ही पकड़ें।"

"ठीक है मैं एक्सप्रेस बस से ही जाऊँगा" मैंने कहा।

बस चली गई।

"फिर क्या हुआ?" मैंने पूछा।

"फिर तो यह रोज का ही सिलसिला हो गया। मैं आराम से किसी भी बस में सवार हो जाता। ड्राइवर और कंडक्टर मेरे भोजन का प्रबंध करते। नींद लगने पर मैं बस में सो भी जाता। धीरे-धीरे मैं रोज ही मंगलौर से पणजी और पणजी से मंगलौर का चक्कर लगाने लगा। बरसों तक यह सिलसिला जारी रहा। इस रूट के सारे होटल तथा अन्य दुकान वाले यहाँ तक कि अक्सर आने-जाने वाले पैसेंजर भी मुझे पहचानने लगे। सभी मुझे सहानुभूति की दृष्टि से देखते, महिलाएँ मुझे अपने पास बिठा लेतीं और मुझे खाने को फल, बिस्कुट आदि देतीं। साथ में इस तरह के रिमार्क करतीं "बेचारा बिना माँ-बाप का है च् च्।" शुरु में यह सहानुभूति मुझे अच्छी लगी लेकिन जैस-जैसे मैं बड़ा होने लगा यह सहानुभूति मुझे अखरने लगी।"

"इस बीच मैंने बस के ड्राइवरों की कृपा से ड्राइविंग भी सीख ली थी और सत्रह-अट्ठारह का होते-होते बड़ी से बड़ी गाड़ियाँ चलाने में दक्ष हो गया। तभी मुझे मंगलौर की एक ट्रांसपोर्ट कंपनी में ड्राइवर की नौकरी मिल गई और माल से लदा हुआ ट्रक मंगलौर से जयपुर, अमृतसर, दिल्ली, कलकत्ता, बंबई, गौहाटी, मद्रास तक लाने ले जाने लगा। कभी-कभी एक यात्रा में मुझे एक-एक महीना लग जाता। मेरी हिंदी के बारे में आप बात कर रहे थे, वह मैंने इसी दौरान सीखी। और भाषाएँ भी सीखीं। लेकिन चूँकि और भाषाओं का सीमित उपयोग ही था इसलिए उन्हें इतनी अधिक नहीं सीख पाया जबकि हिंदी पूरे देश में ही चलती और समझी जाती है इसलिए हिंदी मुझे अच्छी तरह आ गई।"

"यह कौन-सी गाड़ी है?" एक वाहन की लाइट देखकर मैंने पूछा।

वह देर तक उसे देखता रहा। "यह तो बस ही लगती है लेकिन अभी तो बस का टाइम हुआ नहीं।" वह कुछ सोच में पड़ गया "क्या टाइम हुआ?"

"आठ चालीस।"

"तब तो बस का टाइम नहीं है। लेकिन है यह बस ही।"

तभी गाड़ी पास आई तो हमने देखा वह वास्तव में बस ही थी। लेकिन किसी टूरिस्ट सेवा की प्राइवेट बस थी।

"बत्ती देखकर आप कैसे जान लेते हैं?"

"जिंदगी में यही किया और सीखा है।" उसने कहा।

वह कुछ देर शांत रहा तो मैंने उसे कुरेदा, "आप बता रहे थे कि आपने एक ट्रांसपोर्ट कंपनी में नौकरी कर ली।"

"हाँ। लेकिन तीन-चार साल में ही मेरा मन उससे उचट गया। महीनों क्लीनर और हेल्पर के साथ रात-दिन ट्रक पर ही गुजारना पड़ता। कभी-कभी तो ट्रक खराब हो जाने पर कई-कई दिनों तक सुनसान सड़क पर अकेले रहना पड़ता जहाँ खाने-पीने का भी कोई प्रबंध नहीं होता। इसी सबसे ऊबकर मैंने एक दिन वह नौकरी छोड़ दी। कुछ दिन बेकार रहा तब पणजी में एक टूरिस्ट बस सर्विस में ड्राइवर की नौकरी कर ली।"

"यह नौकरी अच्छी थी। सुबह आठ बजे एक स्थान से टूरिस्टों को लेकर निकलता और उन्हें लवर्स प्वाइंट, दक्षिण गोवा के गिरजाघर, सी-बीच, माइम, गोवा, मजगाँव डाक्स, फोर्ट अगोंदा वगैरह

घुमाते हुए शाम को वापस लौट आता। वहीं पणजी में ही एक क्रिश्चियन परिवार में पेइंग गेस्ट बनकर रहने लगा। कुल तीन जनों का परिवार था वह। बूढ़े मा-बाप और उनकी एक बेटी। एक बेटा भी था पहले लेकिन गोआ की आजादी की लड़ाई के दौरान वह मारा गया था। डिसूजा परिवार था वह। लड़की जूली डिसूजा मुझसे आयु में एक-दो वर्ष कम ही रही होगी। वह बहुत अच्छा डांस करती। गिटार और पियानो भी बजाती।"

"धीर-धीरे हम दोनों एक-दूसरे के बहुत निकट आ गए और जूली के मा-बाप की रजामंदी से एक दिन हमलोगों ने चर्च में जाकर विवाह कर लिया।"

मेरी सिगरेट समाप्त हो गई थी। "कहीं सिगरेट मिलेगी यहाँ?" मैंने उससे पूछा।

"कह नहीं सकता।" उसने कहा "चलिए चलकर देखते हैं।"

सौभाग्य से थोड़ी दूर पर ही एक दुकान खुली मिल गई। सिगरेट लेकर हम वापस उसी स्थान पर आ गए। "आप कह रहे थे आपने चर्च में जाकर शादी कर ली।" मैंने उसे कथा का छूटा हुआ सूत्र याद दिलाया।

"हाँ।" उसने कहा "शादी करने के बाद हमलोग आराम से उसी मकान में रहने लगे। तभी छह साल के अंदर हमारे तीन बेटे पैदा हुए। तीनों ही एक से एक खूबसूरत। मैंने मन में तय किया कि मैं तीनों को पढ़ा-लिखाकर बड़ा आदमी बनाऊँगा। लेकिन मेरे बेटों को एक ही धुन थी। मोटर ड्राइवरी करने की। आखिर जब पहले बेटे ने बड़े होकर बहुत जिद की तो जूली की राय से हमने अपना मकान गिरवी रखकर उसे एक टैक्सी दिला दी और वह टैक्सी चलाने लगा। तब तक दूसरा बेटा भी बड़ा हो गया था। अब दोनों उसी टैक्सी को बारी-बारी से चलाने लगे। लेकिन टैक्सी को लेकर उनमें झगड़ा होने लगा। और दूसरे बेटे ने भी टैक्सी की माँग की। अब दूसरी टैक्सी लेने की ताकत मुझमें नहीं थी। अतः मैंने साफ मना कर दिया। इस पर दूसरा बेटा एक ट्रांसपोर्ट कंपनी में ड्राइवर हो गया। मैंने उसे बहुत समझाया कि यह बहुत कठिन जिंदगी है लेकिन वह नहीं माना। तभी एक दुर्घटना घट गई।"

"क्या?" मैंने पूछा।

"मेरा सबसे बड़ा बेटा एक दिन अपनी टैक्सी पर कुछ सवारियों को लेकर पणजी से मंगलौर जा रहा था। तभी उसकी टैक्सी एक ट्रक से टकरा गई। मुसाफिरों को तो कोई चोट नहीं आई लेकिन मेरे बेटे की दुर्घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई। यह लगभग वही स्थान था जहां पहली बार बस दुर्घटना के समय मैं पेड़ की डाल से लटकता हुआ पाया गया था। उस समय मेरे बेटे की उमर थी तेइस साल ग्यारह महीने और तेरह दिन।"

"बहुत अफसोस हुआ मुझे सुनकर" मैंने कहा।

"मुझे भी बहुत सदमा पहुँचा। मैंने अपने दूसरे बेटे को समझाया कि वह ट्रक चलाना छोड़ दे। लेकिन उसकी बात तो दूर रही मेरा तीसरा बेटा जिद करने लगा कि मैं दुर्घटनाग्रस्त टैक्सी को जल्दी से ठीक करा दूँ ताकि वह उसको चला सके।"

"इस बीच जूली के माता-पिता की मृत्यु हो चुकी थी। उसे भी अपने बड़े बेटे की मृत्यु का बहुत सदमा था लेकिन वह मेरी तरह अंधविश्वासी नहीं थी और उसने सबसे छोटे को टैक्सी ठीक कराने के लिए उपयुक्त धन दे दिया। अब मँझला बेटा ट्रक और छोटा बेटा टैक्सी चलाने लगा। तभी दूसरी दुर्घटना घटी।"

मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखा।

"हुआ यह कि मेरा मँझला बेटा खाली ट्रक लेकर मंगलौर से पणजी आ रहा था। तभी लगभग उसी स्थान पर जहाँ बड़े बेटे की मृत्यु हुई थी उसका ट्रक सड़क पर फिसला और नीचे खड्डे में जा गिरा। क्लीनर को बस मामूली चोटें आईं लेकिन मेरे बेटे ने वहीं दम तोड़ दिया।" वह एक क्षण रुका तब बोला, "जानते हैं उस समय मेरे बेटे की उम्र क्या थी?"

"क्या?" मैंने पूछा।

"तेइस साल ग्यारह महीने और तेरह दिन।" उसने कहा।

एक क्षण हम दोनों ही खामोश रहे। तब उसने आगे कहना शुरू किया, "इसके बाद तो मेरा दिमाग ही खराब हो गया। जूली भी बहुत पछताई कि उसने मेरी बात क्यों नहीं मानी और इसी गम में वह पागल हो गई। मुझे उसे पागलों के अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। साथ ही तीसरे बेटे को लेकर मेरे मन में आशंकाएँ उभरने लगीं कि यह कौन सी शैतानी शक्ति थी जो इतनी निर्दयता से मेरे बेटों को मुझसे छीन रही थी। मैंने तय किया कि कुछ भी हो अब मैं माइकेल को टैक्सी नहीं चलाने दूँगा। जी हाँ, माइकेल मेरे सबसे छोटे बेटे का नाम है। मैंने उसे बहुत समझाया लेकिन वह नहीं माना। आखिर एक दिन मैंने उसे जबरदस्ती कमरे में बंद कर दिया और तब तक बंद रखा जब तक टैक्सी मैंने बेच नहीं दी। इसके बाद मैंने उसे कमरे से बाहर निकाला और उसे अपने पास बिठाकर समझाया कि टैक्सी मैंने बेच दी है अब इन पैसों से जो भी धंधा वह करना चाहे करे। वह कुछ नहीं बोला और पैसे मुझसे लेकर जेब में रखकर घर से बाहर चला गया।"

"मैं समझता था वह चार-छह घंटों में लौट आएगा लेकिन एक दिन गुजरा, दो दिन गुजरे और फिर सप्ताह और महीने गुजरने लगे मगर वह लौटकर नहीं आया। आज तक नहीं आया।"

"आज तक नहीं आया?"

"हाँ। मैं बराबर उसकी तलाश में हूँ। आज सत्रह तारीख है न।"

"हाँ।" मैंने कहा।

"आज वह अपनी जिंदगी के तेइस साल ग्यारह महीने और आठ दिन पूरे करेगा। पाँच दिनों में वह इधर जरूर आएगा। चार दिन बाद मैं उस स्थान पहुँच जाऊँगा जहाँ पहली दुर्घटनाएँ घट चुकी हैं। हर गाड़ी को रोकूँगा मैं। जैसे भी हो उसे तलाश करूँगा। मुझे भरोसा है मैं उसे बचा लूँगा।"

"आपका ख्याल है वह अपनी आयु के तेईस वर्ष ग्यारह महीने और तेरहवें दिन वहाँ जरूर पहुँचेगा।"

"मेरा मन कहता है और मैं अपनी पूरी कोशिश करूँगा उसे बचाने की।"

"आपकी पत्नी?"

"उसे दुबारा पागल खाने में भर्ती कराना पड़ा। वह भी दिन गिन रही है। उसे डर है कि माइकेल बचेगा नहीं लेकिन मैं उससे वायदा करके आया हूँ कि मैं उसे बचाऊँगा। जैसे भी हो... लीजिए आपकी बस आ रही है।"

मैंने देखा सड़क पर दो बड़ी-बडी बत्तियां चमक रही थीं। गाड़ी निकट आने पर उसने सड़क पर खड़े होकर हाथ हिलाना शुरू कर दिया "एक्सप्रेस बस हाथ हिलाने से ही यहाँ रुकती है।" उसने कहा। बस आकर जोरों के ब्रेक के साथ रुक गई।

"आइए।" उसने कहा।

मैं अटैची लेकर बस पर चढ़ गया।

"नमस्कार।" उसने कहा।

बस चली तो वह देर तक हवा में हाथ हिलाता रहा।

उसने ठीक ही कहा था। पहले वाली बस मुझे रास्ते में एक जगह खड़ी मिली। अगर मैं उसे पकड़ता तो अटक ही जाता। इस बस ने मुझे समय से पहुँचा दिया और मुझे पणजी वाली बस आराम से मिल गई। पणजी जाते समय जब हमारी बस उस स्थान से गुजरी तो मैंने देखा वह उसी चबूतरे पर बैठा था। अकेला।

रास्ते भर मैं उसके बारे में सोचता रहा। अगर उसने मुझसे कुछ रुपए आदि माँगे होते तो एक बार मुझे यह भी लगता कि वह कहानी गढ़ रहा था। लेकिन ऐसा कुछ नहीं था।

पणजी पहुँचकर मैं घूमने-फिरने में लग गया। एक प्रकार से मैं उसके बारे में सब कुछ भूल ही गया था। तभी जिस दिन मुझे वहाँ से लौटना था और मैं अपने होटल के लाउंज में बैठा पणजी की

अंतिम चाय पी रहा था, अचानक मेरी निगाह अखबार में प्रकाशित एक समाचार पर पड़ी "ट्रक दुर्घटना में ड्राइवर की मृत्यु।"

मैंने अखबार उठा लिया। हैडिंग के नीचे लिखा था "कल मंगलौर से पणजी आते हुए लगभग आधे रास्ते पर बीच सड़क पर खड़े एक बूढ़े व्यक्ति को बचाने के प्रयास में एक ट्रक खड्डे में जा गिरा। क्लीनर को मामूली चोटें आईं लेकिन ड्राइवर की दुर्घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई। ड्राइवर का नाम माइकेल डिसूजा था। उसकी आयु लगभग चौबीस वर्ष थी।"

मैं सकते में आ गया। तो क्या उसे बचाने के चक्कर में उसने ही उसके प्राण ले लिए।
मै पूरी तौर से नास्तिक हूँ। किसी दैवी शक्ति में मेरा कोई विश्वास नहीं हैं। तब इसे क्या कहूँ? संयोग? या नियति या.... आप ही बताएँ।

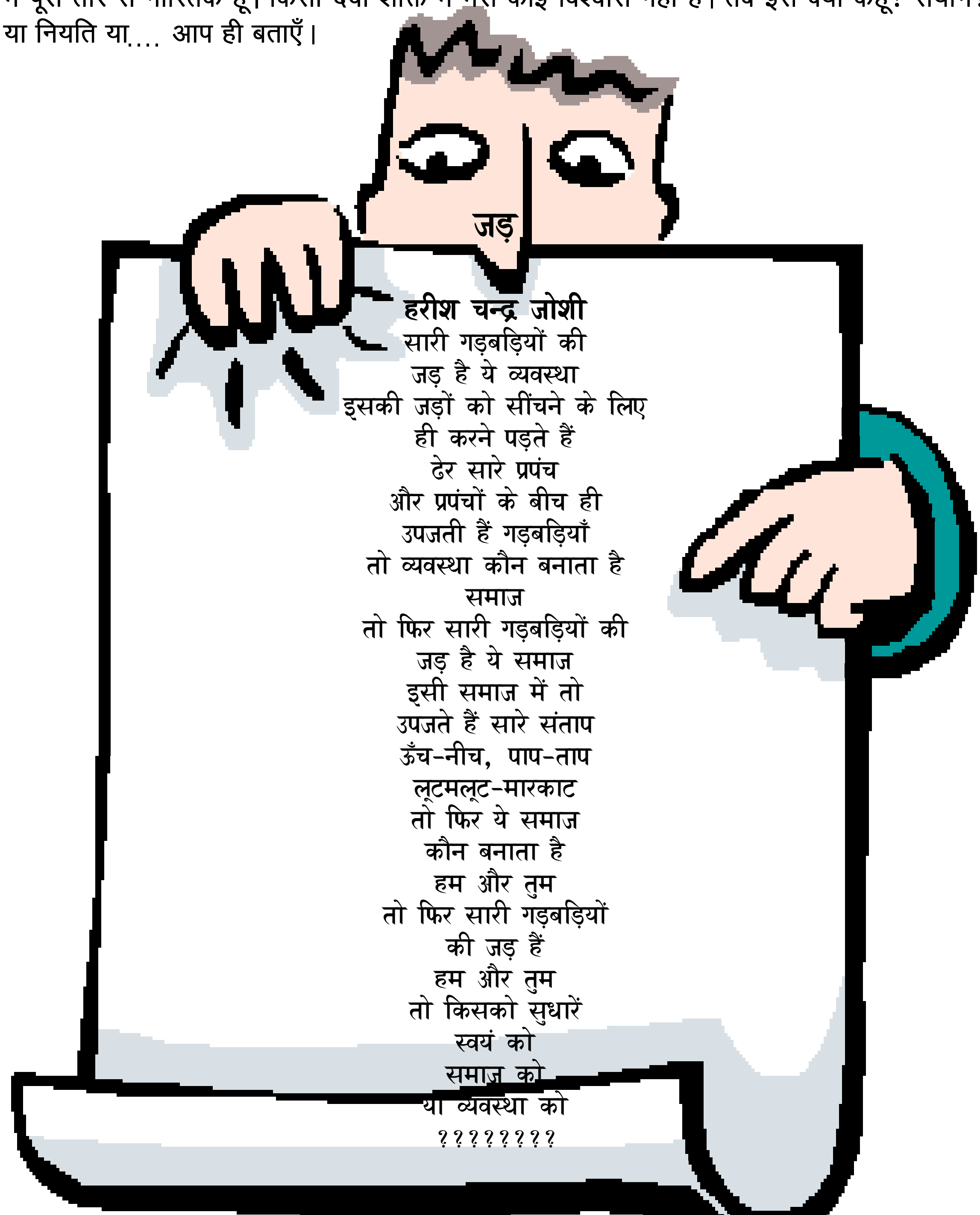

जड़

हरीश चन्द्र जोशी

सारी गड़बड़ियों की
जड़ है ये व्यवस्था
इसकी जड़ों को सींचने के लिए
ही करने पड़ते हैं
ढेर सारे प्रपंच
और प्रपंचों के बीच ही
उपजती हैं गड़बड़ियाँ
तो व्यवस्था कौन बनाता है
समाज
तो फिर सारी गड़बड़ियों की
जड़ है ये समाज
इसी समाज में तो
उपजते हैं सारे संताप
ऊँच-नीच, पाप-ताप
लूटमलूट-मारकाट
तो फिर ये समाज
कौन बनाता है
हम और तुम
तो फिर सारी गड़बड़ियों
की जड़ हैं
हम और तुम
तो किसको सुधारें
स्वयं को
समाज को
या व्यवस्था को
????????

निर्माण

डा. हरिवंश राय बच्चन

नीड़ का निर्माण फिर-फिर
नेह का आह्णान फिर-फिर !

वह उठी आँधी कि नभ में
छा गया सहसा अँधेरा,
धूलि धूसर बादलों ने
भूमि को इस भाँति घेरा,

रात-सा दिन हो गया, फिर
रात आई और काली,
लग रहा था अब न होगा
इस निशा का फिर सवेरा,

रात के उत्पात-भय से,
भीत जन-जन, भीत कण-कण
किन्तु प्राची से उषा की
मोहिनी मुस्कान फिर-फिर !

नीड़ का निर्माण फिर-फिर
नेह का आह्णान फिर-फिर !

वह चल झोंके कि काँपे
भीम कायावान भूधर,
जड़ समेत उखड़-पुखड़कर
गिर पड़े, टूटे विटप वर,

हाय, तिनकों से विनिर्मित
घोसलों पर क्या न बीती,
डगमगाए जबकि कंकड़,
ईंट, पत्थर के महल-घर;

बोल आशा के विहंगम,
किस जगह पर तू छिपा था,
जो गगन पर चढ़ उठाता,
गर्व से निज तान फिर-फिर !

नीड़ का निर्माण फिर-फिर
नेह का आह्णान फिर-फिर !

क्रुद्ध नभ के वज्र दंतों
में उषा है मुसकराती,
घोर गर्जनमय गगन के
कंठ में खग पंक्ति गाती;

एक चिड़िया चोंच में तिनका
लिए जो जा रही है,
वह सहज में ही पवन
उंचास को नीचा दिखाती !

नाश के दुख से कभी
दबता नहीं निर्माण का सुख
प्रलय की निस्तब्धता से
सृष्टि का नव गान फिर-फिर !

नीड़ का निर्माण फिर-फिर
नेह का आह्णान फिर-फिर !

एक रात

डा. शशि मोहन ऋषि

अचानक रोशनी आँखों से ओझल हो गयी
कदम लड़खड़ाये सर से हवा उड़ गयी
गिर गया आह भर कर जान बाकी रह गयी।

फूल सूख गये आशियाने में
खुशबुओं को हवा उड़ा ले गयी
ज़िन्दगी की इन अज़नबी घड़ियों में
चन्द यादें बाकी रह गयीं।

बुझ रहे थे हसरतों के चिराग
अचानक किसी की दुआ लग गयी
हवा ने रुख़ बदला, मुश्किलें आसाँ हो गयीं
बुझते हुये दीये में फिर से लौ जल उठी।

न जाने किसकी दुआ थी वो
लगते ही मुझ पर असर कर गयी
साँसों की उलझन में डूबा था मैं
जाते-जाते लम्बी उमर दे गयी।

फिर भी आती है वतन की याद बार-बार

स्नेह ठाकुर

रहते हैं हम कैनेडा के इस खूबसूरत शहर टोराण्टो में
हैं जिसकी ढेर सारी विशेषताएँ
अर्द्धवृत्ताकार सिटी हॉल और स्काई-डोम
और न जाने कितने छोटे-बड़े नयनाभिराम
फिर भी आती है वतन की याद बार-बार।

है यहाँ दुनिया की सबसे बड़ी इमारत सी.एन.टॉवर
और उसमें परिक्रमा करता भोजन और मदिरा भंडार
तुलना में बहुत ही छोटी पड़ती है कुतुब मीनार
फिर भी आती है वतन की याद बार-बार।

क्या ही शान का है ईटन सेन्टर
भाँति-भाँति की दुकानें हैं उसके अन्दर
समा जाये जिसमें पूरा चौक बाज़ार
फिर भी आती है वतन की याद बार-बार।

थी अपनी छोटी-सी एम्बेसडर
हिचकोले खाती पहुँचाती ठिकानों पर
है यहाँ फर्राटे से चलने वाली आठ-सिलिण्डर
फिर भी आती है वतन की याद बार-बार।

बिजली का चले जाना, और पानी का न आना
थी रोज़मर्रा की बात
यहाँ इंसाँ क्या, घास के लिए भी फव्वारे चलते हैं सदा
है तत्पर बिजली करने को सेवा दिन-रात
फिर भी आती है वतन की याद बार-बार।

दूध में पानी और धनिया में बुरादा मिलाना
था बायें हाथ का काम पपीते के बीजों को काली मिर्च बताना
करते हैं बिन देखे ही लेबलों पर इत्मीनान यहाँ
फिर भी आती है वतन की याद बार-बार।

रहते हैं महलों जैसे घर में पति-पत्नी और मुन्ना मुन्नी
पृथक-पृथक रूम क्या, है ढेर सारा स्थान खाली
थी कहाँ मेरे-तेरे कमरों की बात वहाँ
थे ठसाठस भरे आँगन, छत और दालान सभी
फिर भी आती है वतन की याद बार-बार।

चचेरे ममेरे भाई बहन कहलाने लगे कज़िन यहाँ
और उनके बच्चे once removed
भूल गये हम अपनी संस्कृति संस्कार
जहाँ चाचा-ताया के जाये, कहलाता एक परिवार
रहता बड़ों का आर्शीवाद सदा सब पर
समवयस्कों का दुलार, और छोटों का आदर-सत्कार,

थमा हमने बच्चों को माखन-रोटी और ऐशो-आराम
छीना नानी दादी का ममता-भरा प्यार
समझ आया, सब कुछ पाकर भी,
कुछ न पाने का सार
इसीलिए आती है वतन की याद बार-बार
इसीलिए आती है वतन की याद बार-बार....

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित